

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182612

UNIVERSAL
LIBRARY

UP -24-4-69-5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 481.01

Accession No. 648173

Author S S S

Title

अष्टादश के कर

This book should be returned on or before the date last marked below

महात्मा कबीर

बहुत से पुराने महात्माओं और कवियों की भाँति कबीरदास जी के भी जन्म-मरण की तिथियाँ अनिश्चित, संदिग्ध, ही हैं। केवल एक बात सही मालूम होती है कि ये बादशाह सिकन्दर लोदी के समय में हुए थे। भिन्न-भिन्न आधारों से इनके जन्म-संवत् १४३७ १४५१, १४५२, १४५५ और १४५७ बताये जाते हैं तथा प्रयाग-संवत् १५०५, १५५२ और १५७५। कबीर-पन्थी तो इनका जन्म १२०५ सं० में भी बतलाते हैं, जिसके अनुसार इनकी आयु ३०० या ३०० से अधिक वर्ष की ठहरती है। मिश्रबन्धुओं ने इनकी आयु ६७ वर्ष की मानी है, अर्थात् १४५५ से लेकर १५५२ तक। इस आधार पर कि कबीर जी सिकन्दर लोदी के समकालीन थे इनका मरण-काल १५०५ में होना असंभव है, क्योंकि सिकन्दर लोदी संवत् १५७४ में गद्दी पर बैठा। यह देखते हुए तो इनका मरण-संवत् १५७५ ही मानना चाहिए। बाबू श्यामसुन्दरदास इनका जीवनकाल १४५६ से १५७५ तक मानते हैं। मगहर ग्राम में इनका देहान्त हुआ। 'कबीर-कसौटी' में लिखा है—

पंद्रह सौ पिचहत्तर, क्रिया मगहर को गौन ।

माघ-सुदी एकादसी, रह्यौ पौन में पौन ॥

इनके जन्म के विषय में भी कोई तो कहते हैं कि ये जुलाहे के पुत्र थे और कोई उन्हें जुलाहे का पोष्य-पुत्र बतलाते हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ये जुलाहे का कर्म करते थे और पैदा होने के बाद से ही काशी के एक जुलाहा-परिवार में पले थे, क्योंकि ये स्वयं कहते हैं—“मैं कासी के जुलाहा।” इनके जनक अथवा पोषक मा-बाप का नाम नीमा और नीरू था, इनकी स्त्री का लोई तथा पुत्र और पुत्री का कमाल और कमाली।

कबीर साहब ऊँचे साधु थे। अतः हिन्दू-मुसलमान के अथवा और भी किसी प्रकार के जाति-पांति के भेद-भाव या छुआछूत को नहीं मानते थे। धार्मिक मतों की कृत्रिमता और आडबड़ों के, अंधविश्वासों तथा पर्व-त्योहारों आदि के भी विरोधी थे। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने पीर-पैगंबरों, ईद-मसजिद आदि की निन्दा की है। कहते हैं, इस पर बादशाह लोदी इनसे नाराज़ हो गया और इन्हें जंजीरों से बँधवा कर उसने गंगाजी में डलवा दिया। किन्तु इनका उससे बाल भी बाँका न हुआ और ये सुरक्षित रहे। इस पर कबीरजी ने ही लिखा है—

गंग लहर मेरी टूटी जंजीर । मृग-छाला पर बैठे कबीर ।

कह कबीर कोउ संग न साथ । जल-थल राखत हैं श्रुनाथ ॥

इनके चमत्कार के बारे में और भी कथाएँ प्रचलित हैं। समभाव साधु होने के कारण हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इन्हें मानते थे। जब ये मरे तो हिन्दू-मुसलमानों में भगड़ा हुआ। हिन्दू इन्हें जलाना चाहते थे और मुसलमान दफ़न करना। जब भगड़ा अधिक

बढ़ा तो आकाशवाणी हुई, जिसने कफ़न उठाकर देखने के लिए लोगों से कहा । चादर उठाने पर कबीर जी के शव के स्थान पर फूल रखे हुए दिखाई दिए जिन्हें हिन्दू-मुसलमानों ने आधा-आधा बाँट लिया और दोनों ने अपनी रीति के अनुसार उनका संस्कार किया ।

पहले कबीर भजन गा-गाकर लोगों को शिक्षा दिया करते थे । इन्होंने गुरु नहीं बनाया था । बिना गुरु के उपदेशक पर उस समय शायद लोगों की श्रद्धा नहीं होती होगी, जिस पर कुछ मनुष्यों ने इन्हें 'निगुरा' कहना आरंभ कर दिया । इस पर रामानन्द जी को इन्होंने अपना गुरु बना लिया । पहले तो रामानन्द जी ने एक मुसलमान को अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया, परन्तु बाद में इनकी अत्यन्त भक्ति देखकर उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा ।

रामानन्दजी काशी में उस समय के सबसे बड़े विद्वान् महात्मा थे । कहाँ तो पहले कबीरदास जी 'निगुरे' रह कर ही उपदेश दिया करते थे और कहाँ रामानन्दजी के शिष्य बनकर गुरु-माहात्म्य के इतने ज़बरदस्त उपासक बने कि इन्होंने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व दिया । इन्होंने कहा है—

गुरु गोबिंद दोनों खड़े, काके लागौं पाय ।

बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दिया बताय ॥

कबिरा ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और ।

हरि रूटे गुरु ठौर है, गुरु रूटे नहिं ठौर ॥

कबीरजी ने अपनी 'निगुरी' पूर्वावस्था का भी संकेत किया है—

जब कबीर हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं ।

गुरु को जबतें देखिया, गावन को कछु नाहिं ॥

इस दोहे के तृतीय चरण का पाठान्तर 'अब गुरु दिला, में देखिया' भी मिलता है । पाठान्तर स्वीकार करके 'गुरु' का अर्थ यदि 'ईश्वर' लगाया जाय तो यह दोहा लौकिक चहल-पहल में रत मनुष्यों पर भी लागू होता है; अथवा फिर इससे उनकी गुरु-भक्ति की गहनता सूचित होती है । गुरु अपने मूर्त रूप में, तथा उपदेश रूप में सदा उनके हृदय में रहते थे ।

कबीरदास ने गुरु-महिमा पर बहुत अधिक लिखा है । ऊपर के दोहे का भाव बढ़ कर निम्नलिखित दोहे में आत्म-समर्पण का रूप ग्रहण कर लेता है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ।

प्रेम-गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं ॥

परन्तु यहाँ भी 'गुरु' शब्द को यदि 'ईश्वर' के अर्थ में माना जाय तो 'मैं' का अर्थ 'अहंकार भाव' होता है । पाठान्तर में 'गुरु' के स्थान में 'हरि' शब्द भी मिलता है । कबीर के ऐसे कितने ही पद मिलेंगे जिनमें 'गुरु' शब्द के दोनों अर्थ लगाये जा सकते हैं । इसका कारण यह हो सकता है कि ये गुरु को ईश्वर के समान ही मानते थे । परन्तु जहाँ उन्होंने 'सतगुरु' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ अभिप्राय अधिकतर गुरु से ही है, यथा—

सतगुरु दीनदयाल हैं, दया करी मोहिं आय ।

कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ।

अथवा

इतने सतगुरु आइया, जाको बुधि है धीर ।

भवसागर के जीव कों, खेड़ लगावैं तोर ॥

कबीरजी की साधना प्रियतम-प्रियतमा भाव को लिए हुए थी । साधक स्त्री है और परमात्मा पुरुष अथवा प्रियतम है । गुरु का स्थान दूती का है, जो प्रियतमा को राह दिखाकर प्रियतम के पास पहुँचा देता है ।

हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया ।

और फिर—

यार बुलावैं भाव से, मो पै गया न जाय,

धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय ।

जहाँ गैल सिलसिली, चढ़ीं गिरि गिरि परौं ।

उठहुँ सँभारि सँभारि, चरन आगे धरौं ।

समझ सोच पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय,

ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिं ठहराय ।

अधर भूमि जहाँ महल पिया का हम पै चढ़ा न जाय,

दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हो भेद बताय ।

‘हरि जननी मैं बालक तेरा,’ अथवा ‘भवगुण मेरे बापजी बकस गरीबनेवाज’ जैसी वाक्यों में परमात्मा को कबीर साहब ने माता एवं पिता के रूप में भी ग्रहण किया है । पर यह उनकी पद्धति नहीं मालूम होती । प्रिय-प्रियतमा भाव के व्यंजक विनाह-संबंधी पद उनके बहुत से हैं ।

कबीर साहब का तमाम साहित्य इस बात की सूचना देता है कि वे सब तरह के भेद-भावों के विरोधी थे, मिथ्या परंपराओं या परिपाटियों को नहीं मानते थे तथा पागंड से उन्हें द्वेष था। वे सत्य कथन कहने वाले, स्पष्टवादी तथा तीव्र आलोचक थे, जिसके कारण कहीं कहीं उनकी वाणी में थोड़ी सी उधड़ता भी दिखाई दे जाती है, जैसे—‘साकत सुनहा दोनों भाई ।

अथवा

कनवा फराय जोगी जटवा बढौलै, दादी बढाय जोगी होइ गैले बकरा ।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैले हिजरा ॥

समता-सूचक उनके पद प्रायः उदारता के व्यंजक हैं; यथा—

कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई ।

या—एक जोति ते सब ऊपजा, कौन बामन कौन सूदा ।

यही सम-भावना और अधिक बढ़ कर प्राणिमात्र को एक ही कोटि में रख देती है—सबै जीव साईं के प्यारे ।

परन्तु आलोचना में स्वभाव की ओजस्विता और कथन की कटुता खूब बढ़ी हुई है। वे कहते हैं—

लाइ लावर लापसी पूजा चढ़े अपार ।

पूजि पुजारा ले चला दे मूर्ति के मुख छार ॥

तथा— अरु भूले षट्दरसन भाई । पाषंड भेष रहे लपटाई ।

कहीं कहीं तो वे ललकारते नज़र आते हैं, जिससे उनके स्वसंबंधी अहंकार का भी रूप भासित होता है। ब्राह्मण को डाँटते हुए कह रहे हैं—

तू बाह्यन मैं कासी क जुलाहा, वृक्षहु मोर गियाना ।

परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मणत्व का मिथ्या अभिमान रखनेवाले केवल 'ब्राह्मण'-नामधारी पापंडी लोगों को लक्षित करके ही यह कड़ा गया है और इस ही भ्राममान अहंकार-वृत्ति वास्तव में पापंड के विरोध की तोत्रना का ही एक स्वरूप है । क्योंकि दूसरी ओर ये परम सन्तोषी, सहृदय और अतिथि-सेवी भी दृष्टिगोचर होते हैं—

साईं इतना दीजिये, जामैं कुटुंब समाय ।

मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥

प्रायः ये कपड़े का थान बुनकर वेंचने ले जाते और रास्ते में यदि कोई जरूरतमन्द साधु मिल जाता तो उसे दे डालते, घर खाली हाथ ही लौट आते । यद्यपि जीविका के लिए ये अपना जुलाहे का कर्म करते थे, परन्तु धन से इन्हें घृणा थी । तभी तो अपनी तीव्र आलोचना के ढंग में इन्होंने अपने पुत्र तक के ऊपर कहा है कि—

डूबा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल ।

हरि का सुमिरन छोड़ि के, घर ले आया माल ॥

इनकी सहृदयता के विशेष उदाहरण आगे दिए जाएंगे ।

कबीर साहब के स्वभाव का कोमल अंश रामानन्द जी को गुरु बनाने के बाद विशेष रूप में विकसित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । शिष्य बनने से पहले वे भी हिन्दू-संस्कृति-प्रधान किसी उपासना-रीति के पालन करने वाले रहे होंगे,

क्योंकि उन्होंने ने स्वयं कहा है कि करोड़ों जन्म के मार्ग को गुरु ने पल भर में पार करा दिया; तथा—

हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोझ ।

सतगुरु की किरपा भई, सिरतें उतरा बोझ ॥

गुरु के संपर्क से व्यापक राम का ज्ञान प्राप्त कर के ही सम-भाव का उनमें विकसित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भावुकता की वृत्ति के समृद्ध होने के लिए जिस भौतिक आधार की आवश्यकता थी वह भी, व्यक्तिगत रूप में, इन्हें गुरु में ही मिला। अपने सन्तोष और स्वातन्त्र्य-भाव के कारण अपनी लौकिक यात्रा में इन्होंने कभी किसी से उपकृत होना पसन्द न किया होगा; परन्तु गुरु का उपकार इनके ऊपर ऐसा हुआ जिससे बढ़कर कोई किसी के साथ कर नहीं सकता। गुरु ने उनको राम-ब्रह्म से मिलाया; जिससे वे जीवन मुक्त हो गए—

हम न मरें मरिहै संसारा ।

फलतः सरल-साधु कबीर का हृदय गुरु के लिए भक्ति रूपी प्रेम से छलछलाया पड़ता है।

व्यापक ब्रह्म को मानने वाले कबीर निर्गुणोपासक थे। इनकी उपासना के दो पक्ष दिखाई देते हैं—ज्ञान और भक्ति। इनके ज्ञान पक्ष के अन्तर्गत एक ओर तो मिथ्या मतमतांतरों का खंडन और दूसरी ओर अद्वैत या तद्वत् अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा का सन्निवेश है। अद्वैत की प्रतिष्ठा में स्थान-स्थान पर निर्विशेष ज्ञान का भी रूप दिखाई देता है।

खंडन इन्होंने अपने समय में प्रचलित करीब करीब प्रत्येक ही हिन्दू या मुसलमान मत, पद्धति अथवा संप्रदाय का किया है। इन्होंने मुसलमानों के पीर, पैगंबर, मुल्ला, मसजिद, काबा, ईद, नमाज़, आदि से लगा कर हिन्दुओं के प्रतिमा-पूजन, पुजारी, पंडित, कर्मकांडी, पांडुशार्शनिक, शाक्त, चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि तक सभी का खंडन किया है, जैसा कि अबतक दिए गए कतिपय उदाहरणों से जाना जा सकता है। प्रतिमा-पूजन और अवतारवाद के तो ये अत्यन्त विरोधी थे। मूर्तिपूजा के विषय में इन्होंने कहा है -

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय ।

घर की चकिया कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय ॥

सिद्धांत की दृष्टि से, एक ओर तो 'सुन्न देस को बासी' जैसे वाक्य इन्हे शुद्ध अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं और दूसरी ओर ये अपनी भिन्न भिन्न उक्तियों में कहीं कहीं ये वैष्णवों के समर्थक दिखाई देते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत मार्ग में भी आस्था रखते मालूम होते हैं, जैसे—'साकत ब्राह्मन मात मिले, बैसनों मिले चंडाल।' रामानुज के ब्रह्म में दया है और संसार के चिदचिन् रूप उसी के उद्भास (या लीला रूप) हैं। कबीर को हम स्थान-स्थान पर ईश्वर को 'दयालु' 'मेहरबान', कहते हुए पाते हैं; और फिर वे कहते हैं—

घट घट में रटना लगी रही परघट हुआ अलेख जी ।

कहुँ चोर हुआ कहुँ साहु हुआ कहुँ बाह्यन है कहुँ सेख जी ॥

हम यह भी देख सकते हैं कि अवतार-विरोधी कबीर का यह

कथन वस्तुनः अवतार-कल्पना के कितना समीप पहुँच जाता है ।
यही नहीं, एकाध-स्थान पर उन्होंने अवतार में भी अपना विश्वास
दिखाया है और ईश्वर को देवताओं का देव कहा है—

खंभा मैं प्रकट्यो गिरारि, हिरनाकम मारयो नख बिदारि ।

महापुरुष देवाधिदेव, नरभ्यंघ प्रगट किये भगति भेव ॥

नीचे के पद में उनका ब्रह्म एक साथ ही सगुण और निर्गुण
दोनों है, अथवा यह नेति नेति की प्रतिध्वनि है ?—

तिरिया, पुरुष, कछु कह्यो न जाई, सर्वरूप जग रहा समाई ।

रूप, अरूप, जाइ नहि बोला, हलुका, गरुभा जाय न तोली ।

अरस-परस कछु रूप गुन, नहि तहँ संख्या आहि ।

कहै कबार पुकारि के अदभुत कहिये ताहि ॥

एक ओर उपनिषदों की दुहाई देते हुए कबीर जी कहते हैं—

‘तत्त्वमसी इनके उपदेसा’ और दूसरी ओर अद्वैत-रंग में वे कहते हैं—

ततपद त्वंपद और असीपद बाचलक्ष्य पहिचाने ।

जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने ॥

सतगुरु मिलि सतसब्द लखावे, सारसब्द बिलगावे ।

कहत कबीर सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावे ॥

न्याय दर्शन की तीन प्रकार की लक्षणा और वाचक तथा
सांख्य के अव्याकृत, पंच महाभूत, पचीस तत्त्व, पुरुष, गुणत्रय
आदि को भी उन्होंने निरर्थक बतलाया है, परन्तु योग को ये
मानते थे । इन्होंने शायद स्वयं भी योग का कुछ अभ्यास किया
था और योग के संयोग से साधना करने का संकेत किया है, यथा—

जान का गेंद कर सुरति का ढंड कर, खेल चौगान मैदान माहे ।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके, आयजा भेख भगवन्त पाडी ॥
भेख भगवन्त की सेस महिमा करै, सेस के सीस पर चरन डारे ।
कामदल जीति के कँवलदल सोधि के, ब्रह्म को बेधि के क्रोध मारे ॥
पदम आसन करै पवन परिचै करै, गगन के महल पर मदन जारे ।
कहत कबीर कोई सन्त जन जौहरी, करम की रेख पर मेख मारै ॥

लेकिन साथ ही इनका निर्गुण ब्रह्म योग के ईश्वर से भिन्न है । इन सब के अतिरिक्त इन्होंने मुसलमानी विश्वासां का भी बिना ग्वंडन किए उल्लेख किया है । निम्न पद्य में मुस्लिम विश्वास से संबंध रखने वाले स्थानों के साथ साथ हिन्दू 'साकेत' को भी सम्मिलित कर दिया है-

ताम्रु कं बदन की कौन महिमा, कहौ भामती अति नूर छाई ।
सुन्न के महल में बिमल बैठक, जहाँ सहज अस्थान है गैब केरा ॥
छोड़ि नामूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी ।
जाय जाहूत में खुदा खाबिन्द जहँ, वही मक्कान साकेत साजी ॥

भक्ति-मार्ग में विचरण करते हुए, कबीरजी परमात्म-पक्ष में 'राम' को और भौतिक जगत् में गुरु को ही सब कुछ मानते हैं । 'मतनाम' और 'सतगुरु', यही दो, इनकी भक्ति-रूपी उपासना के केन्द्र हैं । परन्तु इनके 'राम' दशरथ के पुत्र रामचन्द्र नहीं हैं । वे, 'ओंकार' शब्द के, जिसको इन्होंने 'रंकार' कहकर भी अभिहित किया है, प्रतीक है । ये 'राम' 'निर्गुण', 'निराकार' के भी ऊपर हैं—'निरगुन, निरंकार के पार परब्रह्म है, राम को नाम रंकार जानो ।'

यही 'राम' शब्द (या रंकार-ध्वनि) इनका 'सतनाम' है। 'मननाम' के अतिरिक्त इन्होंने 'ओंकार' के लिए 'सबद' या 'शब्द' का भी प्रयोग किया है। 'मनगुरु' और 'सतनाम' का जब कभी भी कबीरदास जी उल्लेख करते हैं तो वे अत्यन्त द्रविण हो जाते हैं, परम दीन बन जाते हैं और दोनों के दयागुण की महिमा गाने लगते हैं। परन्तु कहीं कहीं हम यह भी देखते हैं कि कबीर का साईं 'अकार, उकार, मकार, मानरा, इनके परे बनाया' गया है। वह ओंकार से भी परे है।

कबीरदास जी अशिक्षित थे, परन्तु उन्होंने भ्रमण अच्छा किया था और मन्तों से मिलने का उन्हें शौक था। अनएव वे बहुश्रुत महात्मा थे। उनके सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोधों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म के संबंध में उनका ज्ञान बद्धमूल होते हुए भी दूसरे महात्माओं से सुने हुए तत्सम भासमान अन्य सिद्धान्तों का भी प्रभाव इन पर पड़ा और उन सबका अपने अद्वैत के साथ सन्तुलन करने में ये असमर्थ रहे। उनके संबंध में संभवतः इन्हें कुछ भ्रान्ति रही। इसके अतिरिक्त गुरु बनाने से पहले और कुछ समय बाद तक की सगुणोपासना (क्योंकि रामानन्द जी सगुणोपासक वैष्णव थे) का भी संस्कार इनके भीतर स्वभाव का दुर्लक्ष्य अंग बनकर रह गया होगा। अन्यथा भक्ति तथा निर्गुण का ज्ञान, यदि एकदम ही विरोधी नहीं, तो एक दूसरे से बहुत ज्यादा भिन्न अवश्य हैं। भक्ति किसी न किसी रूप में सगुण के आधार को अवश्य ढूँढती है और वह हृदय

की भावुकता से संबंध रखती है। निर्गुण केवल ज्ञान का ही विषय है और शुष्क वस्तु है। सूफियों की माधुर्यपूर्ण उपासना पद्धति का भी कबीर साहब पर प्रभाव पड़ा था। वे अपने निर्गुण-ज्ञान में उसका बहिष्कार न कर सके और न अधिक उसे ग्रहण ही कर सके। इनके रचना-समूह में शुष्क ज्ञान के पदों का ही बाहुल्य है।

शायद यह कहा जाय कि भिन्न भिन्न मतों का प्रभाव इनकी क्रमिक विचारधारा का सूचक है तथा उनके पूर्ण निर्गुणज्ञानोपासक होने से पहले के पद उनके ऊपर पड़ने वाले भिन्न भिन्न प्रभावों को प्रकट करते हैं। परन्तु ऐसी मूरत में हमें यह मानना पड़ेगा कि अपने विकास-काल में इन्होंने बहुत ही कम रचना की, जब कि दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि गुरु बनाने के बहुत समय पहले से ही ये पद बना बनाकर लोगों को उपदेश भी देने लगे थे।

कबीर साहब के सिद्धान्तों में उपर्युक्त विरोधों के समाधान के लिए कदाचित् यह भी कहा जाय कि कबीर जी हिन्दू-मुसलमानों को अथवा अन्य भिन्न-भिन्न संप्रदायों को आपस में मिलाने के लिए व्यापक रूप से ग्राह्य ईश्वर की मूर्ति उपस्थित करना चाहते थे। उनका ऐसा उद्देश्य रहा होगा, या था, इसको मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु इसके लिए यदि वे एक ईश्वर को उपस्थित करते नब तो ठीक था। लेकिन ईश्वरों को उपस्थित करना समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त ठकुर-सुहानी कहकर संप्रदायों को मिलाने के यत्न की कोई भी संभावना हम खरी खरी कहने वाले कबीर

साहब मे नही देखने । अन्यथा उनके चरित्र मे एक दूसरे के विरोधी दो तत्वों को एक साथ रखकर हम उनके चरित्र को बहुत नीचा गिरा देंगे ।

अद्वैत-ज्ञान के मिलमिलने में कबीर साहब ने माया के संबंध में भी कहा है । उस माया ने सब को बशीभूत कर रक्खा है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक उसके प्रभाव से नहीं बच सके । यह देखने में मीठी लगती है और सबको भ्रम में फँसा कर हरि तक नहीं पहुँचने देती । जितने भी कर्म आदिक हैं—आवागमन और दशावतार तक—सब माया ही हैं । यह माया बड़ी ठगिनी है । कामिनी और काचन इसके दो साधन हैं

(क) माया दीपक नर-पतंग, भ्रमि भ्रमि माहि परंत ।

(ख) संतौ आवे-जाय सो माया ।

(ग) दस अवतार ईश्वरी माया करता के जिन पूजा ।

(घ) माया महा ठगिनी हम जानी ।

निरगुन फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ।

केसव के कमला हैं बैठी, सिव के भवन भवानी ।

पंडा के मूरति हैं बैठी, तीरथ में भई पानी ।

जोगी के जोगिन हैं बैठी, राजा के घर रानी ।

काहू के होरा हैं बैठी, काहू के कौड़ी कानी ।

भक्तन के भक्तिन हैं बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।

(ङ) एक कनक एक कामनी, दुर्गम घाटी दोष ।

यह माया ज्ञान और भक्ति ('नाम' की प्रीति) से दूर की जाती है---

आँधी आई ज्ञान की, ढही भरम की भीत ।

माया टाटी उड़ गई, लगी नाम से भीत ॥

इस प्रकार भक्ति की बड़ी महिमा है। भक्ति से ही मुक्ति मिलती है—‘भगति मुक्ति गति पाई रे’ यद्यपि अन्यत्र यह भी कहा है कि ‘ज्ञान बिना नहि मुक्ति है ।’ परन्तु भक्ति निष्काम होनी चाहिए— उसमें बैकुंठ या बहिश्न तक की कामना न हो - ‘भिस्न न मेरे चाहिये बास पियारे तुझ’ तथा ‘जब लग है बैकुंठ कि आसा । तब लग नहि हरि चरन निवासा ।’ साई के लिए प्रेम ही इस भक्ति का स्वरूप है और प्रेम का रूप है विरह । प्रेम और विरह तथा तत्संबंधी वेदना के ऊपर कबीर जी ने बड़ी अच्छी उक्तियाँ कही हैं जिनमें वास्तविक और भावपूर्ण कविता दृष्टिगोचर होती है ।— यथा

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।

राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ॥

प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्है कोय ।

आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय ॥

बिरहा बिरहा मत कहो, बिरहा है सुलतान ।

जा घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान ॥

कबिरा बैद बुलाइया, पकरि के देखो बाँहि ।

बैद न बेदन जानई, करक करेजे मोहि ॥

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय ।

जिन या बेदन निरमई, भला करेगा सोय ॥

कबिरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रोत ।

बिन रोये क्यों पाह्ये, प्रेम पियारा मीत ॥

कबीर का उद्देश्य साधना, ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त जनता को भी सही मार्ग दिखाना था। वे निश्चित रूप से सुधारक, उपदेशक तथा धर्म-प्रचारक थे। काव्य उनका लक्ष्य न था। अतः उनके बनाए हुए पदों में बहुत अधिक शुष्कता या रूखापन हम पाते हैं। इसीलिए उनकी रचना में हमें पद्य अथवा शुद्ध भाषा के ऊपरी गुण तक भी नहीं मिलते—छन्दों की गति अशुद्ध है, मात्राओं का कोई विचार नहीं है, दृष्टान्तों आदि में प्रायः प्रकृत और अप्रकृत के भाव-सामंजस्य की चेष्टा नहीं की गई है, उनमें प्रायः भावों का अनौचित्य देखा जाता है—ग्लानिव्यंजक, अश्लील अथवा ग्राम्य भावों तथा शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है। भाषा भी इनकी बड़ी विषम है, जिसमें जगह जगह की बोलियों और शब्दों का सम्मेलन है और वामेल शब्दों का प्रायः एकत्र संस्थान कर दिया गया है। शब्दों को स्वेच्छानुसार इन्होंने तोड़ा-मरोड़ा भी है। इनकी बहुत सी त्रुटियों के उदाहरण पीछे दिए गए उद्धरणों में ही मिल जाएँगे। अश्लीलता आदि का उदाहरण हम यहाँ देना नहीं चाहते। व्याकरण की त्रुटि पिछले किसी उदाहरण में आए हुए 'गया न जाय' में देखी जा सकती है।

परन्तु भाषा का परिच्छेद कुछ असमर्थ होने पर भी यदि कहीं भावों की सुसंपन्नता और शक्ति हमें दिखाई देगी तो हम वहाँ काव्यत्व मानेंगे। कबीर जहाँ भावुक हो गए हैं वहाँ कहीं कहीं तो

बहुत ही ऊँची कविता है। 'साई' के प्रति भावना की निष्कपट सरलता को लेकर जहाँ कहीं ये बोले हैं, जहाँ प्रेममग्न हो विरह की पीर से इन्होंने कुछ कहा है, वहाँ ये हमारे बहुत से बड़े-बड़े कवियों से टकर ले जाते हैं। ऐसे स्थलों पर इनकी भाषा में भी कुछ माधुर्य-विशेष आ जाता है। दो एक उदाहरणों से ही अन्दाज़ा हो जायगा—

(क) सुनहु हमारी दादि गुसाई, अब जिन करहु बधीर ।

तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काचे भांडे नीर ॥

बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहि बाँधै धीर ।

देह छतौ तुम मिलहु कृपा करि, भारतबंत कबीर ॥

(ख) तुल्य बिनु राम कवन सो कहिये,

लागी चोट बहुत दुख सहिये ।

बेध्यो जीव बिरह के भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ।

को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुरु सबद बहि गयो सरीरा ।

तुमसे बैद न हम से रोगी, उपजो बिधा कैसे जीवै वियोगी ।

निस बासुरि मोहि चितवत जाई, अजहुँ न आई मिले रामराई ॥

(ग) बिरहबान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि ।

सुसुकि-सुसुकि मरि मरि जियै उठै कराहि कराहि ॥

(घ) सपने में साई मिले, सोवत लिया जगाय ।

आँखि न खोलै डरपता, मति स्वपना है जाय ॥

(ङ) यह तन जारौ मसि करौ, लिखौ राम को नाउँ ।

लेखनि करौ करं क की, लिखि-लिखि राम पठाउँ ॥

परन्तु इस तरह की कविता थोड़ी ही है, क्योंकि अधिकतर तो

कबीर ने खंडन-मंडन के लिए ही कहा है। उनकी वाणी के बाहुल्य को देखते हुए इतने थोड़े काव्यांश के आधार पर ही कबीर को सर्वथा कवि के रूप में ग्रहण करना अनुचित होगा।

फिर, कबीर रहस्यवादी कवि भी कहे जाते हैं। रहस्यवाद का प्रश्न इतना व्यापक है कि इसकी मनोवृत्ति से कौन बचा है, यह बताना कठिन है। हम सभी लोग—केवल अपने दाल-भात से संबंध रखने वाले भी—रहस्यवादी हैं। जिस समय भी मनुष्य अपने, और अपनी परंपरा में दूसरों के, ऐहिक कर्मों में पारमार्थिक अभिप्राय को ढूँढने या देखने लगता है वही वह रहस्यवादी हो जाता है। संसार की विशेषताएँ और भाग्यवाद सामान्य जीवन में रहस्यवाद की भावनाओं के प्रेरक होते हैं। मात्रा का अन्तर हम से नामकरण करवाता है। सांसारिकों में इस प्रेरणा की मात्रा इतनी क्षणस्थायी होती है कि हम लौकिक-व्यवहार-लीन व्यक्तियों को रहस्यवादी नहीं कहते। क्षणिकता की अवस्था से उठकर जब यही प्रेरणा स्थायी बनने लगती है तो वह स्वभाव का अंग बन जाती है और उसमें विवशता तथा भाग्यवादिता का अंश घट कर लोक-मिथ्यात्व, असारता, ग्लानि, असंतोष आदि वृत्तियों का उत्तर-दायित्व पैदा हो जाता है। इससे भी बढ़कर आगे की स्थिति में तल्लीनता, हर्ष, उल्लास आदि व्यक्ति का स्वभाव बन जाते हैं। इस दृष्टि से लौकिक-व्यवहारों से उठ कर जब परमार्थ-चिन्तन बढ़ेगा, तो, निश्चय ही, मनुष्य रहस्यवादी होने लगेगा। अतः सच्चे साधु-सन्त, सभी, किसी न किसी परिमाण में रहस्यवादी होते हैं।

कबीर भी अवश्य रहस्यवादी है और पूर्ण रहस्यवादी । परन्तु दूसरी कोटि के, क्योंकि उनकी वाणी में स्थान-स्थान पर फटकार, आलोचना, खंडन, गर्व आदि का जो उग्र रूप दिखाई देता है, वह अवश्य ही उनके अभ्यन्तर में ग्लानि, असंतोष और क्षोभ की किसी अद्वैतव्यक्त या छिपी हुई परत का द्योतक है । इसीलिए वे लौकिक व्यवहारों का रहस्य-पक्ष से सामंजस्य स्थापित करने में असफल-से रहे हैं । इस बात का देखते हुए जायसी उनसे बहुत ऊँचे रहस्यवादी हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से, यद्यपि वे अपने को कहीं-कहीं जीवन्मुक्त समझते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ('हम न मरै') तथापि उनकी स्थिति जिज्ञासु और मुमुक्षु के बीच की मालूम होती है । हम देख चुके हैं, कि निर्गुण (या उससे भी परेवाले) रंकार-राम के बारे में उनके विचार सुषुप्त और दृढ़ होते हुए भी, वे प्रायः दूसरे प्रभावों से अपने को निर्लिप्त नहीं रख सके हैं—निर्गुण में भी दयागुण की भावना रखते हैं—कभी कभी अति कातर भी होते हैं और अवतार-विरोधी होने पर भी नृसिंहावतार का लौकिक रीति से वर्णन करते हैं । अभी-अभी हमने यह भी कहा है कि कबीर जैसे मुँह-फट, स्पष्टवादी महात्मा लोकरंजक, या आत्मरंजन ही, के लिए उपाधियों आदि से काम नहीं लेंगे । उनकी अत्यन्त दृढ़ विचारधारा में भ्रान्ति, या भ्रान्ति नहीं तो दुर्बलता, का यह अस्तित्व तथा उनका चिड़चिड़ापन जीवन्मुक्त अथवा मुमुक्षु के लक्षण नहीं कहे जा सकते । वे अभी जिज्ञासु ही हैं—कदाचित् ऊँचे जिज्ञासु—और द्वितीय कोटि के रहस्यवादी विचारक ।

परन्तु रहस्यवादी 'कवि ?' उनको रहस्यवादी कवि मानने में मग्न से पहली अड़चन यही है कि वे मुख्यतः कवि नहीं हैं। दूसरी अड़चन उनकी भ्रान्ति की है। विचारक के लिए जो भ्रान्ति एक सरणि से दूसरी सरणि पर पहुँचने का साधन होती है वही कवि के लिए उसको पथभ्रष्ट करने तथा असफल बनाने का प्रधान कारण हो जाती है। कबीर को यदि हम कवि कहेंगे तो बहुत ही भटका हुआ और अपने कर्म का न समझने वाला कवि। काव्य के रहस्यवाद में जिस लावण्य, भीनी व्यञ्जकता और आकांक्षा (कौतुक) का सम्मिश्रण होना चाहिए वह कबीर की वस्तुनया रहस्यवादी उक्तियों में कहाँ है? जिन उक्तियों में काव्यत्व है वे व्यक्तिगत हैं, उनमें अपनी व्यक्तिगत वेदना को लेकर रोना-धोना शिकायत-शिकवे, निहोरे तो हैं, परन्तु विपुल भासमान सृष्टि के साथ अपनी सहायभूति या उम परम-ज्योति की परिलक्षणा कोई नहीं है। इन कविताओं में कबीर जी जैसे प्रायः सृष्टि के बाहर की चीज़ हों—उनका नाता है तो केवल अपने गम से और उनके राम का नाता है तो केवल उनसे। कबीर का रहस्यवाद तो बड़े अपरिणत, असिद्ध ढँग का है—काव्य में। कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कबीर के आभारी हैं। यह बात हमारे कथन को पुष्ट करने वाली है। जो सुकुमारता हमें ठाकुर में मिलती है, उसका कौन-सा अंश हम कबीर में पाते हैं?

यद्यपि कबीर कवि नहीं थे, तथापि उपदेशक की हैसियत से, प्रभाव और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्होंने काव्य के स्थूल

उपकरणों का कहीं-कहीं प्रयोग किया है। इन उपकरणों में हम कुछ अलंकारों की गणना कर सकते हैं, जैसे विरोधाभास, अन्योक्ति अथवा फिर ध्वनि-क्रीड़ा या शब्द-क्रीड़ा। वैसे और भी अलंकार आए हैं, परन्तु विरोधाभास से तो इन्हें बहुत ही प्रेम मालूम होता है। विरोधाभास की रुचिप्रधानता के कुछ उदाहरण ये हैं—

(क) सिर राखे सिर जात है, सिर राखे सिर सोय।

(ख) डगमगाय तो गिरि परै, निःचल उतरै पार।

(ग) बाँझ क पूत, बाप बिन जाया।

अन्योक्ति के उदाहरण—

(क) पतिबरता को मुख घना, जाके पति है एक।

मन मैली विभिचारनी, ताके खमम अनेक॥

(ख) पानी मिलै न आपको, औरन बकसत छोर।

ग) काहे री नलिनी, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।

जल मे उतपति जल में बास, जल मे नलिनी तोर निवास॥

रहस्यवादी प्रायः अन्योक्तियों का अधिक प्रयोग किया करते हैं।

ध्वनि-साम्य का उदाहरण, जैसे, “बेद न बंदन जानई” में, अथवा यमक और अनुप्रास के प्रयोग में देखने को मिल सकता है। कभी कभी अनुप्रास आपसे आप भी बन जाता है। परन्तु ‘मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जान’ में अनुप्रास का आना केवल प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। इसी तरह ‘जहँ आपा तहँ आपदा’ अथवा ‘प्रभुता को सब कोइ भजै, प्रभु को भजै न कोइ’ की शब्द-क्रीड़ा भी प्रसंगतः नहीं आ गई है। चमत्कार पैदा करने के लिए ही इन्होंने सांकेतिक प्रद भी कहे हैं और उलटवाँसियाँ भी, जो पहली का-सा

रूप धारण कर लेती हैं। इनका अर्थ उलटा निकाला जाना है और उसका निकालना योग, सांग्य, वेदान्त आदि के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जाने बिना असंभवप्राय होता है। यथा—

माटि क कोट, पग्वान को ताळा, सोइ के बन सोई रखवाला ।

भूर्कि भूर्कि कृकुर मरि गयऊ । काज न एक सियार से भयऊ ॥

मूस बिलारी एक सँग, कहु कैमे रहि जाय ।

अचरज यह देखा हो संतो. हस्ती सहहि खाय ॥

अथवा संकेत पद—‘बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता ।’

इस प्रकार के कथनों में चमत्कार अवश्य रहता है—कम से कम वे कुतूहलवर्धक तो होते ही हैं, परन्तु उनमें काव्यत्व कुछ नहीं है। उनमें एक प्रकार का दर्द-सर होने लगता है। पर, कबीर को यदि हम प्रधानतः कवि नहीं कह सकते, तो भी हमको यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने हमें बहुत बड़ा और ठोस साहित्य दिया है—विचारक, सुधारक और प्रेरक महात्मा के रूप में। और इसलिए साहित्य में हमको भी उन्हें बहुत बड़ा स्थान देना होगा। इनकी वाणी की प्रेरणा-शक्ति इसी बात से प्रकट है कि तुलसी और सूर के साथ ही साथ, देश के साहित्यकार महात्माओं में इनका नाम भी वैसे ही व्यापक रूप से लिया जाना है और इनके पद भी उसी तरह जगह-जगह गाए जाते हैं। इनका चलाया हुआ कबीर-पंथ इस देश के बड़े पन्थों में से एक है।

कबीर जी ने अध्यात्म-विषयक उपदेशों के अतिरिक्त मनुष्य की साधारण जीवनचर्या के आचरण से संबंध रखने वाले भी बहुत से नैतिक उपदेश दिए हैं। साहित्यिक दृष्टि से, भक्ति और प्रेम

के पदों के बाद वे इनकी रचना के अति श्रेष्ठ अंग हैं। उपयोगिता की दृष्टि से तो वे अति मूल्यवान् हैं ही। कबीर-साहित्य के परिचय के लिए उनको देखना भी आवश्यक है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

या दुनिया में भाय के छोड़ि देय तू पेंठ ।
 लेना होइ सो लेय ले, उठी जात है पेंठ ॥
 केला तबहि न चेतिया, जब ढिग जामी बेरि ।
 अबके चेतै क्या भया, काँटों लीन्हा घेरि ॥
 कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
 ✓ आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय ॥
 रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
 हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥
 ✓ कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय ।
 कथनी तज करनी करै, तौ विष से अमृत होय ॥
 दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय ।
 बिना जीब की स्वाँस से, लोह भस्म हो जाय ॥
 रुखा-सुखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव ।
 देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव ॥
 ✓ ऐसी बानी बोलिऐ, मन का आपा खोय ।
 औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय ॥

इस तरह के उदाहरणों को देख कर कबीर जी के सात्विक मनोभावों और उनके सांसारिक अनुभव का काफी प्रमाण मिलता है। यह कहा ही जा चुका है कि उनका भ्रमण अच्छा था।

महात्मा सूरदास

श्री वल्लभाचार्यजी बड़े पहुँचे हुए महात्मा हो गए हैं। इन्होंने प्रेम-प्रधान सगुण कृष्णभक्ति का प्रचार किया। सूरदासजी इन्हीं के मुख्य शिष्यों में से एक थे। उन्होंने कहा है—

श्रीवल्लभ गुरु-तत्त्व मुनायो लीला-भेद बतायो ।

वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने पिता के चार प्रमुख शिष्यों तथा चार अपने प्रमुख शिष्यों को लेकर एक कवि-वर्ग स्थापित किया जिसे उन्होंने 'अष्टछाप' नाम दिया। 'अष्टछाप' के महानुभाव वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित कृष्णभक्ति के आठ अति श्रेष्ठ कवीश्वर हो गए हैं। इनमें भी सूरदासजी का स्थान सबसे ऊँचा है। विट्ठलनाथ जी के द्वारा 'अष्टछाप' में अपने सम्मिलित किए जाने का उल्लेख मूरदास जी ने इस तरह किया है—थपि गोसाईं करी मेरी भाठ मध्ये छाप ।

'शिवसिंह सरोज'-कार ने सूरदास जी का जन्म-संवत् १६४० लिखा है। यह संभव नहीं मालूम होता, क्योंकि वल्लभाचार्य जी की जन्म-मरण-तिथियाँ भारतेन्दु ने १५३५ सं० और १५८७ सं० बताई हैं तथा विट्ठलनाथ जी की १५७२ और १६४२। अतः मिश्र-बन्धुओं ने 'सूरसारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' की तिथियों के

आधार पर सूर का जन्म-संवत् १५४० माना है। 'सूरसारावली' एक प्रकार से सूरसागर की सूची-जैसी है और 'साहित्य लहरी' 'सूरसागर' के ही कुछ पदों तथा दृष्टिकूटों का संग्रह है। सूरदासजी के कथन के अनुसार 'साहित्य-लहरी' का रचना-संवत् १६०७ है और 'सूरमारावली' उन्होंने ६७ वर्ष की आयु में लिखी। इस प्रकार यदि यह भी मान लिया जाय कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही साल में लिखे गए थे तो सूरदास जी का जन्म संवत् १५४० ही ठहरता है। सूरदास जी की मृत्यु १६२० सं० में हुई, क्योंकि उस समय विट्ठलनाथ जी ४८ वर्ष के थे।

सूरदास जी की जाति के बारे में दो मत हैं। मरदास-कृत 'सूर के दृष्टिकूट' के अनुसार वे भाट थे, क्योंकि उन्हें पृथ्वीराज के भाट-कवि चन्द बरदाई का वंशज बनाया गया है। परन्तु गो-स्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने 'चौरासी वेष्णवां की वार्ता' लिखी है, जिसमें उन्होंने सूरदास जी को ब्राह्मण कहा है। सूरदास जी की मृत्यु के समय विट्ठलनाथ जी की आयु ४८ वर्ष की होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि गोकुलनाथ जी का जन्म उस समय से काफी पहले हो गया होगा! यह देखते हुए गोकुलनाथ जी का कथन ही अधिक विश्वसनीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाभादास जी के 'भक्तमाल' तथा मियाँ-सिंह के 'भक्तविनोद' से भी उनके ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है।

इनके माता-पिता निर्धन थे। पिता का नाम रामदास था। आठ वर्ष की आयु में पिता के साथ मथुरा जाकर फिर ये न

लौटे । पिता को यह समझा कर कि कृष्ण के आश्रय में वे अब अकेले ही मथुरा में रहेंगे सूरदास जी ने उन्हें खाली वापस लौटा दिया ।

सूरदास जी अंधे थे । कोई कहते हैं वे जन्मांध थे, परंतु एक किंवदंती के अनुसार इन्होंने अपनी युवावस्था में किसी सुंदरी को देख कर अपनी आँखें फोड़ ली थीं । यह भी कहा जाता है कि अपनी अंधावस्था में एक बार एक कुएँ में गिर गए थे और छे रोज़ तक वहीं पड़े रहे । सानवे दिन इन्हें किसी ने निकाला तो ये समझे कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने ही उनकी रक्षा की है, और इन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया । हाथ छुड़ा कर उसके भाग जाने पर इन्होंने विह्वल हो कर कहा—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहि ।

हिरदै सों जब जाइहौ, सबल बखानौ तोहि ॥

यद्यपि सूरदासजी के रचे हुए पाँच ग्रंथ बताये जाते हैं, तथापि इनकी जो कीर्ति है वह 'सूरसागर' के एक विशेष भाग के ही कारण । सब ग्रंथ इनके उपलब्ध भी नहीं हैं । 'सूर-सागर', कहा जाता है, सूरदासजी के सवा लाख पदों का संग्रह है । परंतु इस समय पूरे 'सूरसागर' का चतुर्थांश भी उपलब्ध नहीं है ।

सूरसागर के पदों का आधार श्रीमद्भागवत का विषय है । सूरसागर के दशम स्कंध में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है । सूरदास जी कृष्ण के अनन्य भक्त थे और, इस प्रकार, सगुणोपासना के पक्षपाती थे । निर्गुण को इन्होंने शायद अस्वी-

कार तो नहीं किया है परन्तु निर्गुणोपासना को अवश्य वेकार, और एक प्रकार से अर्थहीन, बतलाया है। गोपी-उद्धव-संवाद में गोपियों के तर्क और उपालंभ आदि द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ण सिद्धि सूरदास ने की है, यहाँ तक कि अन्त में निर्गुण ज्ञान के अहंकारी उद्धव तक का सगुण प्रेमभक्ति का उपासक बना दिया है। सिद्धान्तरूप में स्वयं अपने बारे में उन्होंने यह कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै ।

ज्यो गूँगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै ।

मन-बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै ॥

रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै ।

सब बिधि अगम विचारहि, ताते सूर सगुन पद गावै ॥

कृष्ण इनके जगदीश हैं, त्रिभुवनपति हैं, ब्रह्म हैं। तुलसीदासजी की तरह इन्होंने भी अपने पदों में अनेक स्थानों पर लीला-वर्णन करते हुए अपने प्रभु की ईश्वरता की याद दिलाई है; जैसे—

कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर

हरत बिलंब न लावै ।

ताको लिण नंद की रानी,

नाना रूप खिलावै ॥

अपनी कृष्णभक्ति की एकतानता में सूरदास और किसी देवता की परवाह नहीं करते। मूलरूप में कृष्ण और राम के अभेद के कारण राम का इन्होंने कतिपय पदों में अवश्य चरित्र-वर्णन किया है। परन्तु जिस तरह तुलसीदास ने कहीं-कहीं कृष्ण

की कीर्ति को गा कर भी राम को ही अपनाया उसी तरह सूर भी ब्रजवासी—केवल ब्रजवासी—कृष्ण ही के रूप पर मोहित हुए । अन्यथा तुलसीदास की भाँति दूसरे देवताओं की स्तुति करना तो दूर रहा, इन्होंने उनका नाम तक नहीं लिया; बल्कि एकाध स्थान पर तो यहाँ तक कह डाला—

और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे ।

सूर और तुलसी में इस विभिन्नता का कारण दोनों के दृष्टिकोणों तथा उद्देश्यों का भेद हो सकता है । कहा जाना है कि तुलसी की भक्ति सेवक-भाव की थी और सूरदास की सखा-भाव की । यह स्वयं एक कारण कहा जा सकता है, क्योंकि सखा को सखा से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं होती । परन्तु सबसे बड़ा कारण तो शायद यह है कि सूरदास की भक्ति आशिक-भिजाजी के ढंग की थी, जिसमें प्रेमी को प्रेय के अनिरिक्त संसार में और कुछ दीखता ही नहीं—सारा संसार जैसे उसके लिए है ही नहीं । सूर के कृष्ण विश्वंभर और जगदीश आदि होते हुए भी विश्व की कम परवाह करते हैं । उधर तुलसी ने जिस अपना उपास्य बनाया है वह यदि विश्व का संरक्षणा, नियमन न करे तो उसका इस पृथ्वी पर आना ही व्यर्थ हुआ । इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण तो खिलाड़ी और मनोहर बालक है, जिनका माधुर्य ही उनके जन्म लेने का एक मात्र उद्देश्य है, परन्तु तुलसी के राम सचमुच विश्व के राजा हैं, जिनके यहाँ राजमर्यादा के अनुसार राज-दरबार भी सजता ही होगा । यही कारण है कि

सूर ने माधुर्य की बहती गंगा का सुधा-पान करने के लिए देवताओं को साकी बनाने की ज़रूरत नहीं समझी, परन्तु तुलसीदास के लिए दरबारियों को प्रसन्न रखना भी आवश्यक हो जाता है।

परन्तु, जैसा अभी कहा गया है, सूरदास को इस बात का भी बार-बार ध्यान आता है कि उनके कृष्ण परब्रह्म है। जब जब इस तरह की भावना का अतिरेक हो जाता है तब-तब वे उनके सामने बड़े विनयावन्त और दीन भी हो जाते हैं। उनके विनय के कोई कोई पद बड़े भावुकता-पूर्ण हैं। उनमें कभी वे उलाहना देते हैं, कभी अपने को पतितों का सरताज कहते हैं और कभी कृपा-दान पाकर कृतकृत्यता प्रकट करते हैं, यथा—

(क) कोटि जनम भ्रमि भ्रमि हम हारयो, हरिपद चित न लगायो ।

और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा बिसरायो ॥

(ख) सूर पतित तुम पतित-उधारन, गहौ बिरद की लाज ॥

(ग) मो सम कौन कुटिल खल कामी ।

जिन तन दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक-हरामी ॥

भरि भरि उदर विषयन को धायो, जैसे सुकर ग्रामी ॥

हरिजन छाँड़ि हरि-बिमुखन की निसिदिन करत गुलामी ॥

पापी कौन बढ़ो है मो तैं, सब पतितन में नामी ।

सूर पतिन को ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी ।

(घ) अबकी राखि लेहु भगवान ।

हम अनाथ बैठे दुम-डरिया पारधि साँधे बान ॥

याके डर भाज्यो चाहत हौं ऊपर दुख्यो सचान ।

दुऔ भौंति दुख भयो आनि यह कौन उबारै प्रान ॥

सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी सर छूटे संधान ।

सूरदास सर लग्यो सचानहिं जै जै कृपानिधान ॥

सखा-भाव की अन्यतम स्थिति में दैन्य या विनय का इस प्रकार होना हमें विरोधी नहीं मालूम होता। प्रेमी भी अपने प्रेम-पात्र की निपटुरता से, अथवा किसी समय अपनी ही अयोग्यताओं की कल्पना करके, कातरनावश प्रेमपात्र के सामने इसी तरह दीन हो जा सकता है। वास्तव में, हृदय के समस्त अगणित भावों में इतनी मंशिलता, इतनी एक-सूत्रता, है कि कब कौन भाव किसका सहचारी या संचारी बन जाना है, इसका जानना सर्वथा कठिन है। केवल मुख्य भाव को ही हम उसकी प्रधानता के कारण मुख्य रूप से देख सकते हैं। दृष्टिकोणों के भेद को देखने से ही वह देखा जाता है। यदि हम तुलसी में सेव्य-सेवक भाव देखते हैं, तो इसीलिए, कि तुलसी की दृष्टि हमेशा राम के गौरव और प्रताप की ओर लगी रहती है। इससे भिन्न, सूर कृष्ण के रूप-माधुर्य और उनकी दिल-फ़रेब अदाओं पर ही लट्ठ हैं। परन्तु दैन्य या विनय का संचरण सखा-संबंध या सेव्य-सेवक-संबंध, दोनों ही, में, स्थिति स्थिति के अनुसार, होता रहना संभव है। सूरदास की भक्ति में प्रेम और विरह की मात्रा अधिक है। विरहातुर प्रेमी (भक्त) की भाँति वे अपने प्रेमपात्र (उपास्य) की प्रत्येक छवि के प्रत्येक आवर्तन को, उसकी ज़रा

ज़रा सी चेष्टा को, ज़रा ज़रा से मनोभावों को, बड़ी उत्सुकता से आँखें लगा कर, देखते हैं। इसी लिए मूर-सागर वास्तव में भावों और चित्रों का सागर है। थोड़े से काव्योदाहरण आगे चल कर दिए जाएँगे। उनसे इसका कुछ अनुमान हो सकेगा। यहाँ उनकी प्रेम-मंथंधी तथा भक्ति मंथंधी-कुछ उक्तियाँ देवने लायक हैं—

(क) सब रस को रस प्रेम है, विषयी खेलै सार ।

तन, मन, धन, यौवन विसे, तऊ न मानै हार ॥

(ख) प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास ।

तहँ चढ़ि तीय जु देखिए, परत छाँड़ उर स्वाँस ॥

(ग) जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहाँ सौ बार ।

एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ 'सूर' गवार ॥

(घ) प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर है जोये ।

प्रेम बँधो संसार, प्रेम परमार्थ लहिये ॥

(ङ) एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल ।

साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि रे मिलैं गोपाल ॥

अपनी भक्ति को इस भाँति प्रेम का रूप देकर सूरदास हिंदी-साहित्य में भावुक-शिरोमणि बन कर अवतरित होते हैं। दूसरे प्रेम-मार्गी कवि जायसी में भी अत्यन्त भावुकता है, परंतु उनका आलंबन लौकिक पक्ष में अनिर्दिष्ट होने के कारण वह जायसी में उन अवस्थाओं के सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति पैदा न कर सका जो जन-साधारण के हृदयों को, जीवन में, रात दिन गुदगुदाया करती हैं।

यह बात अवश्य है कि सूरदास का भावना-क्षेत्र परिमित है—वे सर्वांगीण जीवन के व्यापक क्षेत्र को लेकर हमारी भावनाओं को नहीं जगाते। परंतु इसमें सूर का अधिक दोष नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का भावना-केन्द्र अपना-अपना होता है। यह भी जरूरी नहीं कि हर कोई सारे संसार को देखे ही। जरूरी केवल इतना ही है, कि जितना कोई कवि देखना है, उनका उसका दर्शन मनुष्य जीवन के किसी अंग से इस प्रकार संपर्क रखने वाला हो, कि पढ़ने वाला उससे आनन्द उठा कर अनुपाततः अपना कुछ कल्याण भी कर सके।

फिर, ये महात्मा लोग अपने भाव में हों, अपने ही उद्गार-सुख के लिए, लिखा करते थे। उन्हें किसी का कुछ देना नहीं था। पर हों, कुछ देना न होने पर भी, तुलसीदास और जायसी ने भाव-मग्नता से भी लिखा है और देने का भी भाव रक्खा है। तुलना करने पर सूरदास अवश्य कुछ पृथक्त्व-प्रिय अथवा स्वलीन प्रतीत होंगे। और इसके अनिरिक्त, जहाँ सूर ने देने के लिए लिखा भी है, वहाँ वे अपने कर्तव्य में असफल हुए हैं। उनके कूटपद और कृत्रिम उपमानादि की योजना पांडित्य अथवा चमत्कार-प्रदर्शनमात्र के लिए है और रसिकों के किसी काम की नहीं। अपना यह पांडित्य-प्रदर्शन तथा चमत्कार-कौतुक ही उनके लिए संसार को देने की चीज़ है। जिन लोगों को झूठमूठ सिर खुजलाते रहने का शौक है, वे उनकी इस प्रकार की रचनाओं से अनुरंजित हो सकते हैं, जैसे—

अदभुत एक अनूपम बाग ।

जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग ॥

हरि पर सखर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग ।

रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग ॥

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर मुक, पिक, मृगमद काग ।

वजन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग ॥

अग अंग प्राति और और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ।

मूरदास प्रिय पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़भाग ॥

ऐसे पदों का अर्थ लगाने बैठने की अपेक्षा क्या लंबी चादर तानकर मो रहना अधिक अच्छा नहीं है ? इसी तरह रूप-वर्णन में निम्न उदाहरण के उपमानों का क्या उपयोग है ?—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि, लटकनि भाल रुनाइ ।

सनि गुरु असुर देव गुरु मिलि मनु, भौम सहित समुदाइ ॥

परन्तु हमें तो उनकी भावमयी रचना में काम है जिसके कारण किसी ने उनको तुलसीदास जी से भी ऊँचा उठाकर 'मूर मूर तुलसी ससी' तक कह डाला है ।

मूर ब्रजवासी कृष्ण के उपासक थे । ब्रजवासी कृष्ण पहले तो हमें बालरूप में दिखाई देते हैं और बाद में, बड़े होकर, गोपी-वल्लभ के रूप में । अतः मूरदास जी की भावुकता का केन्द्र भी कृष्ण की यही दो अवस्थाएँ हैं । मूरदास की भावुकता का रहस्य है इन दोनों अवस्थाओं का अति सूक्ष्म निरीक्षण—उन अवस्थाओं के छोटे से छोटे भावस्थलों में मूर की प्रवेश-सामर्थ्य । यह सामर्थ्य

दृग्गोचर होनी है दो रूपों में—वस्तु-चित्रण और स्वभाव-चित्रण (अथवा मनोविज्ञान) । वस्तु-चित्रण के भी दो पक्ष हो जाते हैं । (१) जहाँ किसी दृश्य का केवल नक्शा ही खड़ा किया गया हो, और (२) जहाँ नक्शे के साथ ही साथ उसमें संबद्ध भाव-व्यंजना भी की गई हो । सूरदास के वस्तु-चित्रण में दृशरी वान की प्रधानता है ।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बाल-स्वभाव का जिनना इन्होंने पहचाना और याथानर्थ्य के साथ वर्णित किया है उतना शायद वे लोग भी नहीं कर सकते जो रात-दिन बालकों की क्रीड़ाएँ देखते हैं । वास्तव में आश्चर्य होना है कि सूरदास, जन्मांध होते हुए भी, या यदि जन्मांध नहीं थे तो बचपन में ही घर से बाहर साधुओं की संगति में रहते हुए, कहाँ से बालस्वभाव का इतना व्यापक अध्ययन कर सके । सचमुच यदि उन्होंने बाल-चरित्र का विषय लेकर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखा होता तो वह संसार भर के आज तक के गद्य और पद्य साहित्य में अद्वितीय होता । यह अनुमान एकदम भ्रान्त न होगा कि कृष्ण के बालरूप की एकनिष्ठ भक्ति ने उन्हें भगवान के उस रूप का देखने के लिए एक दिव्य दृष्टि दे दी थी ।

कृष्ण अभी बिलकुल छोटे ही हैं । यशोदा लोरी गा-गा कर उन्हें सुलाने की चेष्टा कर रही है । नीचे दिये गये पद्य में वह दृश्य सामने आ जाता है—

यशोदा हरि पाकने झुलावै ।

हलरावै दुलरावै मरहावै जोइ सोई कछु गावै ॥

मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै ।
 तू काहे न बेगी सो आवे तोका कान्ह बुलावै ॥
 कबहुँ पलक हरि मूँद लेत है कबहुँ अधर फरकावै ।
 सोवत जानि मोन है है रहीं, कर कर सैन बतावै ॥
 इहि अंतर अकुण्ड उठे हरि यशुमति मधुरै गावै ।
 जा सुख मृग अमर मुनि दुर्लभ सो नदभामिनि पावै ॥
 जय कृष्ण कुल बड़े होगए तो—

गहे अँगुरिया तात को नंद चलन सिखावत ।
 अरबराइ गिरि परन है कर टंकि उठावत ॥
 बार बार बकि म्याम सों बन्धु बोल बकावत ।
 दुहुँया दोउ दंतुली भई अति मुख छबि पावत ॥
 कबहुँ कान्ह कर छाँडि नंद पग दये करि धावत ।
 कबहुँ धरणि पै बैठि के मन महँ कछु गावत ॥
 कबहुँ उलटि चलें धाम को घुटरुन करि धावत ।
 मूर स्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत ॥

मकखन कृष्ण को विशेषनः प्रिय था । सो—

जैवत स्याम नंद की कनियों ।

कछु खावत कछु धरनि गिरावत, छबि निरखन नँदरनियों ॥

बारत, खात, लेत आपन कर, रुचि मानत दधि दनियों ।

आपुन खात नंद मुख नावत, सो सुख कहत न बनियों ॥

जरा और बड़े हुए तो उन्हें फ़िक्र होने लगती है कि उनकी

चोटी अभी तक नहीं बढ़ी। बलदास की चोटी तो खूब लंबी और मोटी है। अतः माता को उपालंभ दिया जा रहा है—

मैया कबहि बढ़ेगा चोटी ।

कितन बार मोहि दूध पियत भइ यह अवहे है छोटी ॥

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों हूँ है लोत्रा मोटी ।

काढ़न गुहन नहावन ओछन नागिन स्या भ्ये लोटी ॥

काचो दूध पियावन पचि पचि देत न भाखन रोटी ।

सूर स्याम चिरजाबो दोउ भया हरि हलधर की जोटी ॥

अब कृष्ण खेलने जाने लगे हैं। बलदास तथा ग्वाल-बाल उन्हें चिढ़ाया करते हैं। कृष्ण की शिकायत में गीम, उपालंभ, भोलापन और साथ-साथ माता का प्रेम-गद्गद होकर मान्त्रना देना, इस एक पद में एक ही साथ देखने को मिलते हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो ।

मोसो कहत माल की लीन्हो, तोहि जमुमति कब जायो ॥

कहा कहाँ एहि रिस के मारे खेलन हूँ नहि जात ।

पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात ॥

गोरे नंद जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर ।

चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब, सिंगै देत बलधर ॥

तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीसै ।

मोहन को मुख रिस समेत लखि जमुमति सुनि सुनि रीसै ॥

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।

सूर स्याम मो गोधन की सौँ, हौँ माता तू पूत ॥

माखन-चोरी सीख लेने पर दोषगोपन के लिए कुछ जरा सी 'धूर्तता' भी सीख लेना स्वाभाविक ही है। इस 'धूर्तता' में कई कई बाल-मनोभाव आकर सम्मिलित हो गए हैं। बाल-चातुरी का एक अच्छा सा नमूना यह है—

मेया मेरी, मैं नहि माखन खायो ।

भोर भयो गैयन के पाछे मधुवन मोहि पठायो ॥

चार पहर बंसावट भटक्यो साँझ परे घर आयो ।

मै बालक बहियन को छोटा छाँको किस विध पायो ॥

ग्वालबाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ।

तू जननी मन की अति भारी इनके कहे पतियायो ॥

जिय तेरे कछु भेद उपजहँ जान परायो जायो ।

यह लै अपना लकुट कमारिया बढ़ताह नाच नचायो ॥

सुरदास तब बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो ॥

इसके बाद जब चोरी की आदत अधिक बढ़ गई, तो केवल अपने घर में ही नहीं, बाहर, ग्वालियों में घर जाकर भी मकखन चुराने लगे। ग्वालिनियाँ आ-आ कर यशोदा में शिकायत किया करती थीं। पर जब यशोदा ने एक दिन क्रोध करके कृष्ण को चतुर्बल से बाँध दिया तो वही ग्वालिनियाँ आकर कृष्ण का पक्ष लेनी हैं। इसके साथ ही साथ, निम्नोद्धृत पद में दैत्य हुए पुत्र और बाँधने वाली माता के भाव भी दर्शनीय हैं—

देखो माई कान्हू हिचकियन रोवै ।

तनक मुखहि माखन लपटान्यो डरनि ते अँसुवन धोवै ॥

माखन लागि उल्लखल बाँध्यो सकल लोग ब्रज जोवै ।
 निरखि कुरुख उन बालन की दिसि लाजन अँखियन धोवै ॥
 ग्वालिन कहैं या गोरम कारन कत सुन की पति खावै ।
 आनि देहि हम अपने घर तें चाहत जिनकु जसोवै ॥
 जब जब बन्धन छोर्ग्यो चाहति, मूर कहै “यह को वै” ।
 मन मायव तन चित गोरस में इहि विधि महरि बिलोवै ॥

इस प्रकार बाल्यावस्था से संबंध रखनेवाली एक एक स्थिति, एक एक मनाभाव, का मूर ने बड़ा ही हृदयप्राही वर्णन किया है, जिसमें नायक कृष्ण के साथ ही साथ माता-पिता, सखा-साथी तथा ब्रज-गोपियों का भी यथोचित चित्रण हुआ है। परन्तु बाल्योत्तर अवस्था के वर्णनों में जो मनो-विज्ञान दिग्वाड देता है वह एक-देशीय है। कृष्ण गोपियों के प्रेय हैं और गोपिकाएँ प्रेमिका। पर मूरदास के नायक तो कृष्ण ही हैं। तथापि हम देखते हैं कि कृष्ण की मानसिक अवस्थाओं का इतना अधिक चित्रण नहीं किया गया जितना गोपियों की अवस्थाओं का—क्या तो सभोग शृंगार में, और क्या विप्रलंभ शृंगार में ही। दूसरी बात यह है कि उत्कृष्टता की दृष्टि से विप्रलंभ का वर्णन ही अधिक श्रेष्ठ है। मूरसागर में भ्रमरगीत वाला अश एक अद्भुत, अनमोल, हीरा है। कृष्ण के मथुरा जा कर वहीं बस रहने के बाद ब्रज की गोपिकाओं को जो विरह-वेदना होती है उस में उद्धव का आकर उनको निर्गुण-ज्ञान सिखाना उनके लिए कटे पर नमक का काम करता है। भ्रमर-गीत में गोपियाँ एक उड़ते हुए भौरे को संबोधित कर उद्धव को

ग्वच उलटी-सीधी सुनानी हैं और उन के निर्गुणज्ञान की ग्वच किरकिरी करती हैं ।

सूरदास के विप्रलम्भ-वर्णन में संभोग की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष का होना स्वाभाविक भी है । सूरदास स्वयं ही कृष्ण के विरही प्रेमी हैं, चिर-विरही है, और गोपिकाओं की पीड़ा वस्तुतः उनकी अपनी ही पीड़ा है । गोपिकाओं के रूप में हम उन्हीं की वाणी सुनते हैं । वही, यथार्थ में, नीरस निर्गुण-पंथियों के प्रति-निधि उद्धव में भी अपनी मममत्त हृदयवृत्ति के साथ उलझ रहे हैं । अपनी भावमग्नता में आगे चल कर कल्पनाद्वारा वे यह भी देख लेते हैं कि उद्धव को उन्होंने हरा दिया है और उद्धव भी 'नए मुसलमान' बन कर, प्रेम के रंग में अपने को पूरी तरह डुबा कर, कृष्ण की विहारभूमि के एक एक क्रीडाम्थल में मतवाले बनकर नाचते फिर रहे हैं ।

परन्तु संभोग-गुंजार उत्कृष्ट होते हुए भी भ्रमरगीत की टक्कर का क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि वह तो मूर की केवल कल्पना की ही चीज है, वास्तविक तो है नहीं । चिर-विरही होने के नाते वे कभी कभी आशा के उल्लास में अपने प्रभु की दयादृष्टि का मानसिक अनुभव अवश्य करते होंगे । यह मानसिक अनुभव ही उनके संभोग-वर्णन का आधार समझा जा सकता है । परन्तु विरह का अनुभव मानसिक नहीं, वह वास्तविक है और निरन्तर है । और, गोपियों की निराशा के रूप में, हम यह भी देखते हैं कि सूरदास विरह में भी संतुष्ट ही हैं, क्योंकि विरह से भी प्रेम पुष्ट ही होता है । हाँ, यदि वात्सल्य के अन्तर्गत भी

हम किसी तरह संभोग और विप्रलंभ, दोनों, अवस्थाएँ मान सकें, तो हमें कहना ही पड़ेगा कि वहाँ संभोग की ही प्रधानता है तथा वहाँ का संभोग उत्तरावस्था के विप्रलंभ से अधिक उत्कृष्ट हुआ है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सूर-माहित्य का परोक्ष नायक हम सूरदास को ही मान सकें तथा कृष्णचन्द्र को नायिक(१) ? परोक्ष होने के कारण नायक, अवस्था अवस्था के अनुसार, भिन्न भिन्न रूपों में हमारे सामने आता है और अपनी नायिका के, जिसमें कोई लिंगभेद नहीं है, तरह तरह के हाव-भावों और आचरणों को देव कर भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों को आश्रय देता है। नायिका-स्थानीय में लिंग-भेद के ज्ञान का निरोहित होना बिल्कुल असंभव तो नहीं है, यथा नायिकास्थानीय जब पिता, पुत्र या माता अथवा शिशु हो और भाव, सूरदास की भाँति, एकमात्र भावना का प्रेम ही हो। और जब कि ईश्वर ही नायिकास्थानीय हो तब तो यह जग भी असंभव नहीं। कबीर का राम कभी उनके लिए पति होजाता है, कभी पिता और कभी माता। अस्तु, यदि किसी भी तरह सूर-काव्य के नायक-नायिका के संबंध में हम यह दृक्कोण बना सकें तो उस काव्य के भिन्न-भिन्न भागों की इन विषमताओं का हम ज्यादा अच्छी तरह अनुसरण कर सकेंगे।

सूरदास के संभोगशृंगार के विशेष स्थल हैं दानलीला, मुरली-माधुरी, रासलीला, चौरहरण आदि। ये वास्तव में पूर्वराग और तत्परवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। राधा के पूर्वराग का इस तरह वर्णन किया गया है—

चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान पान भुलाइ ।

कबहुँ बिलपति, कबहुँ बिहँसति, सकुचि बहुरि लजाइ ।

मात-पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ ॥

एक दूसरी गोपी कहती है—

जो बिधना अपबस करि पाउँ ।

तौ सखि, कल्यो होय कछु तेरो, अपनी साध पुराउँ ॥

लोचन रोम रोम प्रति माँगों, पुनि पुनि त्रास दिखाउँ ।

इक टक रहै, पलक नहिं लागै, पढ़ति नई चलाउँ ॥

कृष्ण नन्द-महर के बेटे हैं । उन्होंने वैसे भी ब्रजवाभियों की समय समय पर रत्ना की है । उनके अहमान काफ़ी हैं । इसलिए कृष्ण गोपियों से दान, टेकम, माँगने हैं । इस पर उभय पक्षों में खूब चलती-चुभती बातें होती हैं । पर बातों ही बातों में कृष्ण ने तो अपना प्राप्य ले भी लिया । तब गोपियों और कृष्ण में यह बातचीत हुई—

“नन्दकुमार, कहा यह कीन्हां ।

वृसत तुमहि कही धौ हमसो, दान लियां कि मन हर लीन्हो ।

कछु दुराव नहीं हम राख्यौ, निकट तुम्हारे आई ।

एते पर तुमही अब जानौ, करनी भली बुराई ॥”

“अब घर जाहु दान मैं पायो, लेखो कियो न जाइ ।”

“तनहि पर है मनहि राजा, जोइ करै सो होइ ।

कही घर हम जाहि कैसे, मन धरयो तुम गोइ ॥”

“अजहुँ कही, रहिहैं अनतहि, तुम अपनी मन लेहु ।

अब पछितानी लोक-लाज डर, हमहिं छौं डिते देहु ॥

घटती होइ जाहिते अपना ताको कीजै त्याग ॥”

“तुमहि बिना मन धरु, अरु धरु घर, तुमहिं बिना धरु धरु माता पितु ।

धरु कुल कानि और लाज डर.....

सूरदास प्रभु तुम बिन घर जो, बन भीतर के कृप ॥”

इस प्रकार हृदय-दान, पूर्ण आत्म-समर्पणा, हो चुकने पर अब बाकी ही क्या रहा ? परन्तु मुरली और भी गजब ढाती है । ब्रज-बालाओं को वेमुग्ध करके उमने स्वयं कृष्ण के प्रेम पर अधिकार जमा लिया है और हर समय उनके अग्रों में लगी रहती है । वह गोपियों की मौत बन बैठी है —

अंगन की सुधि भूल गई ।

स्याम अधर मृदु मुनत मुरलिका चकित नारि भई ॥

जो जैसे सो तैसे ही रहि गई सुख दुख कछा न जाई ।

लिखी चित्र की सी सब हूँ गई एकटक पल विसराई ॥

काहू मुध काहू बुधि नाहीं सहज मुरलिका तान ।

भवन भवन की सुधि न रही तनु सुनत सबद वह कान ॥

सखियन तें मुरली अनि प्यारी वे बैरिन यह सौत ।

सूर परस्पर कहत गोपिका यह उपजी उदभौत ॥

अनुमान किया जा सकता है कि जिन गोपियों का कृष्ण से ऐसा प्रेम था उनकी कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद क्या हालत हुई होगी । यहाँ दशा-क्रम के अनुसार सूर के विप्रलंभ शृंगार के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं । अलग अलग उदाहरणों का सौंदर्य-विवेचन

तो नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि मूर के एक एक पद पर एक एक लेख लिखा जा सकता है, परन्तु मूरदास के अधिकांश पद स्वयं ही बोलते हैं। सुनने वाले में केवल थोड़ी सी भावुकता होनी चाहिए।

इनमें से पहला यशोदा की दशा का वर्णन करता है तथा दूसरे में यशोदा का देवकी के लिए करुणापूर्ण मंदेश है। गेय उदाहरण गोपियों के विरह तथा गोपी-उद्धव संवाद से लिए गए हैं।

(क) मानों हों ऐमे ही मरि जेहों ।

इहि ओगन गोपाल लाल कां कबहुँ कनियौ लँहों ॥

कब वह मुख बहुरौ देखौगी, कब वैसा सचुपैहों ।

कब मोपै माग्वन माँगैगो, कब रोटी धरि दहों ॥

मिलन आस तनु प्रान रहत हैं, दिन दस मार्ग चैहों ।

जो न मूर कान्ह अइहे तौ, जाइ जमुन धँसि जेहों ॥

(ख) सँदेसो देवकी सो कहियो ।

हों तौ धाय तिहारे सुन कां, मया करत नित रहिया ।

जदपि ऐव तुम जानत उनकां, तऊ मोहि कहि आवे ॥

प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि, माग्वन रोटी भावै ॥

तेल उबटनो अरु तातां जरु, ताहि देखि भग जातै ।

जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम क्रम करि करि न्हातै ॥

सूर पथिक सुनि मोहिं रैन दिन बढ़ी रहत उर सोच ।

मेरो अलग्व लडैतों मोहन, हँ है करत सँकोच ॥

(ग) बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैन की परतीति गई ।

उठि न गई हरि संग तबहि ते हँ न गई सखि म्याम मयी ॥

रूप रसिक लालची कहावन सो करनी कछु पे न भई ।
 साँचे कूर कुटिल ए लोचन ब्यथा मान छबि छीन गई ॥
 अब काहे जल सोचत मोचत समै गए ते मूल नई ।
 मूरदास याही ते जड़ भए इन पलकन मिलि दगा दई ॥

(घ) बिन गोपाल बैरिन भई कुँज ।

तब ये लता लगति अनि शातल, अब भई विपम ज्वाल की पुंज ॥
 वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलि गुंजें ।
 पवन पानि घनसार सर्जावनि दधिसुत किरन भानु भई भुंजें ॥
 ए ऊधो कहियो माधव सो बिरह कदन करि मारत लुंजें ।
 मूरदास प्रभु को मग जावत आखर्यो भई बैरन ज्यौ गुंजें ॥

(ङ) सँदेसनि मधुवन कूप भरे ।

जे कोई पथिक गए हे ल्यौंते फिर नहि गवन करे ॥
 के वै दयाम मिखाय समोधे के वै बीच मरे ।
 अपने नहि पठवत नैदनंदन हमरेउ फेरि धरे ॥
 मसि खँटा कागर जल भांजे, सर दौ लागि जरे ।
 पार्ता लिखे कहो क्यों करि जो पलक कपाट अरे ॥

(च) ऊधो जो तुम हमहि सुनायो ।

सो हम निपट कठिनई हठि के या मन को समुझायो ॥
 जुगुति जतन बहु हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौ लायो ।
 भटकि फिरयो बोहित के खग ज्यो पुनि फिरि हरि पै आयो ॥
 अब वैसी उपाय उपदेशौ जिहि जिय जात जियायो ।
 एक बार जो मिलहि मूर प्रभु कीजै अपनी भायो ॥

(छ) मथुकर कान्ह कहां नहि होही ।

कीधौ नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही ॥
 सचि राखी कबरी पाठ पै ये बाने चकचाही ।
 स्याम सुगाहक पाय सखी रा छार दिग्यायो मोही ॥
 नागरमनि जे सोभासागर जग जुवती हैसि मोही ।
 लियो रूप दै जान ठगोरी, नयो ठगो ठग बोही ॥
 है निरगुन कुबरी सरवरि अब घटा करी हम जोही ।
 मूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहि आज सय सोही ॥

(ज) ऊयो तुम अपना जतन करौ ।

हित की कहत कुहित को लागै किन बेकाज ररौ ॥
 जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत है जी की ।
 कछु कहत कछुवै कहि डारत, धुनि देखियत नहि नीकी ॥
 साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुमसौ मानी हारि ।
 याही तैं तुम्है नैदनन्दन जू यहाँ पठाए टारि ॥
 मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यौ है तन रोग ।
 मूर सुवैद बेगि किन हँदौ भए अर्द्धजल जोग ॥

(झ) रहि रे मथुकर मथु मतवारे ।

कहा करौ निरगुन लेकरे हौ, जीवहु कान्ह हमारे ॥
 लोटत नीच पराग पंक मे पचत न आपु सगहारे ।
 वाग्भार सरक मदिरा की अपरस कहा उधारे ॥
 तुम जानत हम हू वैसी हैं जैमे कुसुम तिहारे ।
 घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे ॥

मुन्दर श्याम कमलदल-लोचन जमुमति नन्द दुलारे ।

सूर श्याम को सरबसु अप्पों अब कापै हम लेहि उधारे ॥

वास्तव में सूरदास की रमात्मकता के यथेष्ट उदाहरण दे सकना परम कठिन कार्य है। यह निश्चय करना ही कठिन हो जाता है कि किस पद को उद्धृत किया जाए और किसे छोड़ा जाए। प्रत्येक पद ही किसी न किसी भावभंगी का प्रकाशक है। 'अनुभावों और संचारियों का इनका बाहुन्य' और कहीं न मिलेगा जितना सूरदास में। अनुभावों और संचारियों के ऐसे व्यापार में ही सूरदास जी की भावुकता का प्रसाद दृष्टिगोचर होता है—उसमें वर्णनकर्म का उत्तरदायित्व इनका व्यापक नहीं है। सूरदास के स्थिर चित्रों के वर्णनों में प्रायः परंपरागत उपमानों के प्रयोग तथा बार-बार उन्हीं की आवृत्ति ने किसी विशेष भावव्यञ्जना को सहायता नहीं पहुँचाई। कृष्ण के रूप-वर्णन में गुरु, कुज शनि आदि को अथवा फिर चन्द्र, कमल, मृग, मीन, कीर, गंजन आदि को देखते-देखते कभी कभी तो जी ऊब जाता है।

भावुकता के अनिरिक्त सूर के काव्य में एक और मनोहर लक्षण भी मिलेगा, जो अन्ततः भावुकता से ही संबंध रखता हुआ भी, एक भिन्नगण्य तत्त्व है। वह लक्षण है 'वाग्वैदग्ध्य' या वाणी की चातुरी। कृष्ण और राधा के प्रथम मिलन की बातचीत में यह लक्षण अपने सरल मनोमोहक रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण राधा को एक दिन यमुनातट पर पहली ही बार देख कर उस पर तत्काल रीझ गए हैं। उस समय—

बृक्षत स्याम कौन तू गोरी ।

कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी ॥

काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहत आपनि पौरी ।

सुनति रहति स्ववनन नैदहोटा करत रहत माखन-दधि-चोरी ॥

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।

सूरदास प्रभु रमिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ॥

एक छोटो सा उदाहरण यह भी है

ऊधो, मन न भये दस बीस ।

एक हुनो सो गयो स्याम संग, को अवराधे ईस ॥

तानाजनी अथवा व्यंग्योक्ति के कनिषय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं -

(क) भण हरि मधुपुरी राजा बड़े वंस कहाय ।

मृत मागध बंदत बिरुदाहि बरनि बसुंधो तात ।

राजभूषन अग भ्राजत, अहिर कहन लजात ॥

(ख) कं तुम सिखै पठाए कुबजा, कहा स्याम घन जू धौ ।

बेद पुरान सुमृति सब हूँ दौ जुबतिन जोग कहूँ धौ ॥

ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधौ ।

सूर मूर अक्रूर गयो लै, व्याज निवेरत ऊधौ ।

(ग) सखी री स्याम कहा हितु जानै ।

सूरदास सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै ॥

(घ) अपनी ज्ञान-कथा ए ऊधो मधुरा ही लें जाउ ।

नागरि नारि भली समुझैंगी तेरो बचन बनाउ ॥

मूरदास ने अलंकारों की भी खूब योजना की है उत्प्रेक्षा और रूपक इनके दो अति प्रिय अलंकार हैं। जिन स्थलों में इन्होंने अलंकार का प्रयोग केवल अलंकार अथवा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है, उन स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र इनके अलंकार भाषाभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक हुए हैं, यथा—

१ हमको सपने हूँ मैं सोच ।

जा दिन ते बिछुरे नैननंदन ता दिन ते यह पोच ॥

मनो गोपाल आण मेरे घर, हेसि वर भुजा गही ।

कहा कंगे बैरिन भइ निदिया, निमिष न और रही ॥

ज्यों चकई प्रतिचित्र देखि कै आनन्दी पिय जानि ।

सूर पवन मिलि निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि ।

२. भृकुटि बिकट नयन अति चंचल, यह छवि पर उपमा इक धावत ।

धनुषदेखि खंजन जिमि डरपत, नाहिं सकत उठिये अकुलावत ॥

कभी कभी अलंकार केवल अलंकार रूप में प्रयुक्त होना हुआ भी सात्विक कल्पना के चमत्कार का मुख देने वाला बना है, जैसे—

फटिक भूमि पर कर पग छाया यह शोभा अति राजति ।

करि करि प्रति पद पद प्रति मनो बसुधा कमलबैठिकी साजति ॥

मूरदास की भाषा साधारण बोलचाल की ब्रजभाषा है, परन्तु फिर भी उसमें साहित्यिक भाषा का चमत्कार मौजूद है। उनकी भाषा में माधुर्यगुण तो सर्वत्र ही है। बहुत से ऊबड़-खाबड़ समस्त पद या संयुक्ताक्षरों की खटखटाहट उसमें दृष्टिगोचर नहीं होती। तथापि एक दोप उसमें बड़ा ज़बरदस्त है, मूरदास की भाषा में

लापरवाही बहुत ज्यादा दिखाई देती है। उन्होंने तुक के लिए प्रायः अपने शब्दों को जगह जगह बनाया-बिगाड़ा है तथा कहीं-कहीं पर व्याकरण की अशुद्धियाँ भी कर दी हैं। गति के लिए “सु” और “जु” के भी निरर्थक प्रयोग किए हैं। कहीं कहीं उन्होंने अरबी-फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी, उन्हें अपने मौँचे में ढाल कर, कर दिया है।

सूर का काव्य गीतिकाव्य है। तरह तरह की राग-रागिनियों में ही इसकी रचना हुई है। हिन्दी में अन्य अनेक कवियाँ भी गीति-रचनाएँ मौजूद हैं, परन्तु जितने लोकप्रिय इनके (तथा मीराबाई के) पद हैं उतने अन्य किसी के नहीं। मगीतप्रिय लोगों की तो वे संपत्ति है। इसका कारण, जैसा कि हम कह आए हैं, इन पदों की गहरी भावुकता, भक्तिप्राणना तथा मधुरता है। भक्ति की दृष्टि से तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के भी बहुत से पद लोगों की जवान पर रहते हैं।

इस प्रसंग में इतना और संकेत कर देना उचित मालूम होना है कि हिन्दी साहित्य में, बहुत समय पहले से ही, सूर और तुलसी के काव्य लोगों की तुलनात्मक बुद्धि को उत्तेजित करते रहे हैं, और शायद आगे भी करते रहेंगे। किन्हीं भी दो कवियों के काव्य की तुलना करते समय उनके निजी व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझ लेना उपयोगी होता है। इस पुस्तक में सूरदास और तुलसीदास पर उपस्थित किए गए दोनों लेखों से, संभव है, इन महाकवियों के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण का कुछ

आभाम मिल सके । दृष्टिकोण का समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भावात्मकता के साथ ही साथ 'कलात्मकता'—संबंधी बहुत से प्रश्नों का भी आप ही आप समाधान हो जाता है । कई आचार्यों ने काव्य में 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' नाम के दो अलग अलग पक्ष स्वीकार किए हैं । हमारी समझ में पक्षों का यह वर्गीकरण कुछ कृत्रिम सा है । काव्य में भावुकता और कलात्मकता दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं ।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी कब पैदा हुए, उनके माता पिता कौन थे और क्या करते थे तथा ये कहाँ के रहने वाले थे, आदि बातों का पता अभी तक विद्वानों को नहीं लगा। स्वयं जायसी के कथन से इतना मालूम होता है कि ये शेरशाह के समय में थे। इन्होंने अपनी पदमावत के आरंभ में शेरशाह की प्रशंसा की है और ग्रंथ-रंभ का समय सन ६४७ हिजरी (संवत् १४६७) बताया है, जो कि शेरशाह का समय था। पदमावत आरंभ करने के कुछ समय बाद ये जायस में आकर रहने लगे थे।—‘जायस नगर धरम अस्थान, तहाँ आइ कवि कीन्ह बग्वान् ।’ बचपन में चंचल निरुत्तम के कारण इनका एक आँख जाती रही थी। ये फकीर थे।

इनके लिखे हुए दो ग्रंथ ‘पदमावत’ और ‘अखरावट’ हैं। अखरावट में एक छोटी सी पुस्तिका है, जिसमें मिहान्त-संघर्षी बातें हैं। महाकवियों में इनका स्थान पदमावत के कारण है। पदमावत फारसी मसनवियों के ढंग पर अवधी भाषा में लिखी गई एक लंबी चौड़ी प्रेम-कहानी है। इसके पहले इमा तरह की चार-पाँच और प्रेम-कहानियाँ भी लिखी जा चुकी थीं, जिनका उल्लेख जायसी ने अपने ग्रंथ में किया है।

मंजैप में पदमावती की कथा इस प्रकार है—

सिंहल के राजा गंधर्वसेन की लड़की पदमावती जब जवान हुई तो उसे काम सनाने लगा। परन्तु उसका पिता प्रताप और ऐश्वर्य में अपने समान किसी को न देखकर उसका विवाह न करता था। जब पदमावती के नोते हीरामन ने उसके लिए बर ढूँढने की प्रतिज्ञा की और एक राज मौका देखकर वह उड़ गया। जंगल में वह एक चिड़ीमार के हाथ में पड़ गया, जो उसे बेचने के लिए बाज़ार में ले आया। यहाँ चित्तौड़गढ़ से आए हुए एक ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया। जब ब्राह्मण वापिस चित्तौड़गढ़ पहुँचा तो वहाँ के राजा रतनसेन ने तोते के गुणों पर रीझ कर उसे ब्राह्मण से मोल ले लिया।

एक दिन रतनसेन की रानी नागमती से तोता पदमावती के अद्वितीय मौंदर्य की चर्चा कर बैठा। रानी को आशंका हुई कि कहीं वह राजा से भी पदमावती के रूप की प्रशंसा न कर दे और उसने शुक को मार देने के लिए अपनी धाय को आज्ञा दी। पर धाय ने शुक को छिपा रक्खा।

राजा को जब रानी के काम का पता लगा तो उसने रानी से तोता या तोते के बदले में उसके प्राण माँगे। राजा को जब तोता मिल गया तो तोते ने उससे सच-सच बात कह दी और इस प्रसंग में पदमावती के रूप की खूब प्रशंसा की। बस, राजा तो बेसुध हो गया और फिर योगी होकर पदमावती के लिए निकल पड़ा। बड़े कष्ट के साथ सात समुद्रों को पार कर अपने साथियों सहित वह सिंहल

पहुँचा। शुक से समाचार पाकर पदमावती ने राजा के पाम सँदेशा भिजवाया कि वसन्त पंचमी को वह महादेव जी के मंदिर में आकर उससे मिलेगी।

पर जब पदमावती शिवजी की पूजा करने पहुँची तो उसे देखते ही राजा मूर्च्छित हो गया। पदमावती वापिस चली गई। राजा को जब होश हुआ और उसने पदमावती को न देखा तो वह जान देने पर उतारू हो गया। तब पार्वती जी ने महादेव जी से उसकी रक्षा करने की प्रार्थना की और महादेव जी ने सिद्धगुटिका देकर राजा को गढ़ पर चढ़ने का आदेश दिया। राजा ने साथियों सहित गढ़ को जा घेरा। अन्ततः सब के सब पकड़ लिए गए और राजा को मूली पर चढ़ाने की आज्ञा हुई। पर महादेव जी ने फिर सहायता की और गंधर्वसेन को रतनसेन का वास्तविक परिचय मिलने पर उसने पदमावती के साथ उमका विवाह कर दिया।

इस बीच में नागमनी, विरह में व्याकुल, रोती फिरती थी। एक पक्षी उमका विलाप सुनकर मिहल गया और उसने राजा से विरहिणी का हाल कहा, जिसे सुन राजा ने अपने देश को लौटने का इरादा किया। गंधर्वसेन ने बहुत धन देकर उसकी विदा की। वापिस समुद्र-यात्रा में रतनसेन तूफ़ान आ जाने के कारण पदमावती से वियुक्त हो गया। यहाँ समुद्र की बंटी लक्ष्मी की सहायता से दोनों पुनः एक दूसरे से मिल गए और समुद्र से पाँच विशेष पदार्थ भेंट में पाकर सकुशल चित्तौड़गढ़ पहुँचे।

यहाँ आकर राजा ने अपने एक दुष्ट सभासद राघवचंनन को

देश-निकाला दे दिया। राघव दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास पहुँचा और उसने पदमावती के सौंदर्य का वर्णन कर बादशाह को चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के लिए प्रेरित किया। परंतु बादशाह आठ वर्ष तक घेरा डाले रहकर भी चित्तौड़ को सर न कर सका। तब वह झूठी संधि करके और राजा के महल में भोज के अवसर पर पदमावती की दर्पणगत छाया देखकर राजा को धोखे से कैद करके दिल्ली ले गया।

इस अवसर पर राजा के दो सरदार, गोरा और बादल, सहायक हुए। सोलह सौ बंद पालकियों में सशस्त्र सैनिकों को बिठा कर वे दिल्ली पहुँचे और उन्होंने बादशाह को सूचना दी कि पदमावती अपनी दासियों सहित बादशाह के निवास में रहने को आई है, परन्तु एक बार वह राजा से मिल लेना चाहती है। बादशाह की अनुमति मिल जाने पर रानी की पालकी राजा के कारागृह में पहुँची, परन्तु पालकी में से रानी के बजाय एक लुहार निकला। लुहार ने राजा की वेडियाँ काट दी और तत्काल राजा घोड़े पर सवार होकर भाग निकला। अन्य पालकियों के सैनिक भी निकल आए। राजा सकुशल अपने राज्य में पहुँच गया।

यहाँ आकर उसे कुंभलनेर के राजा देवपाल से दृढ़ करन पड़ा, क्योंकि रतनसेन की अनुपस्थिति में देवपाल ने एक कुटनी द्वारा पदमावती को बहकाने की चेष्टा की थी। इस युद्ध के परिणाम में रतनसेन और देवपाल दोनों ने प्राणों से हाथ धोये और नागमती तथा पदमावती सती हो गई।

जायसी ने हमें बताया है कि यह सारी कथा अन्योक्ति के रूप में है। ग्रंथ में अंत में उन्होंने कहा है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धंधा । बोचा सोई न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोई सैतान् । माया अलाउदी सुलतान् ॥
प्रेम-कथा एहि भोति विचारहु । लेहु बूझि जौ बूझै पारहु ॥

इन पंक्तियों को हमें केवल इस बात के प्रमाण के लिए ही ग्रहण करना चाहिए कि पदमावती की प्रेमकथा में पारमार्थिक तत्त्व का अध्यारोप है। सारी कथा जीवात्मा की परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल चेष्टा तथा दोनों के सम्मिलन की कहानी है। यदि हम जायसी की उपर्युक्त व्याख्या को इसमें अधिक मात्रा में स्वीकार करते हैं तो उनके रूपकागों के संबंध के बारे में कुछ संदेह उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि, यदि पदमावती या पदमिनी बुद्धि का प्रतीक है तो रतनसेन की उसके लिए दौड़, वास्तव में, उस परम तत्त्व के लिए दौड़ नहीं है, जिसका केवल-प्रकाश इस चराचर सृष्टि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। अर्थात्, फिर हम यह मानें कि बुद्धि ही वह परम तत्त्व है। ब्रह्म को चिद्रूप समझते हुए ऐसा माना जा सकता है, और अद्वैत मत के संबंध से, जिसके अनुसार केवल माया ही एक बाधक तत्त्व है, ऐसा माना जाना संभव हो सकता है। परन्तु माया को मान लेने के बाद शैतान को भी (जिसका उल्लेख मुसलमानी और ईसाई धर्मों में किया गया है) मानने की जरूरत नहीं रहती। इसके

अतिरिक्त माया ब्रह्म को प्राप्त करने तक की अवस्थाओं में ही बाधक होती है, लेकिन 'पदमावत' में रतनसेन और पदमावती का मिलन हो जाने के पश्चात् अलाउद्दीन-रूपी माया अपना बग्वेडा खड़ा करती है। फिर, अद्वैत मन के अनुसार, मायालिप्त ब्रह्म का (जो शायद जायसी के उपर्युक्त रूपक में मन कहा जा सकता है) मायायुक्त होना (अर्थात् अपनी शुद्ध ब्रह्मावस्था को प्राप्त करना) वस्तुतः उस अवस्था को प्राप्त करना है जिसे हम बोलचाल की व्यापक भाषा में 'मोक्ष' कहते हैं। ऐसी अवस्था में रतनसेन का (और देवपाल का भी) पारस्परिक युद्ध में मारे जाने का क्या अर्थ हो सकता है। पारमार्थिक पक्ष में यह देवपाल कौन है और कहाँ से आया ? यदि वह जिज्ञासु या मुमुक्षु के बचे-खुचे भ्रमों के रूप में परिलक्षित होता है तो हमारी पहली आपत्ति फिर खड़ी होती है कि पदमावती रूपी बुद्धि चिद्ब्रह्म नहीं है, वह केवल ब्रह्म को प्राप्त करने में ज्ञान रूप साधन है। इस दृष्टिकोण को लेते हुए यह भ्रम स्वाभाविक हो जाना है कि देवपाल-रूपी कोई तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मन और बुद्धि को नष्ट कर दे सकता है। मन (अर्थात् अहंकार और तत्स्वरूप संकल्प-विकल्प) का नष्ट हो जाना तो ठीक है—और हम यह भी देखते हैं कि रतनसेन देवपाल को मारने के बाद मरता है—परन्तु पदमावती रूपी बुद्धि या ज्ञान का नष्ट हो जाना (सती होना) समझ में नहीं आता। अथवा, क्या 'सती' शब्द श्लिष्ट है। यदि 'सती' सद्रूप कैवल्य-ज्ञान का प्रतीक मान लिया जाय तो इस अविद्यारूप प्रपञ्च से मुक्त होने वाले मन के साथ उसका जाना ठीक है।—

‘औ जा गौंठि, कंत, तुम्ह जेरो । आदि-अंत लहि जाइ न छोरी ।’
 परंतु ये शब्द नागमती और पदमावती दोनों ही के सती होने समय के शब्द हैं । और, नागमती को भी सत्य पर स्थित सती कहा गया है—‘दुवौ महा सत सती बखानी’, और नागमती ‘यह दुनिया-धंधा’ के रूप में प्रपंच भी है । यदि नागमती के सहगमन का समाधान किसी प्रकार हो जाए, और यदि थोड़ी देर के लिए रतनसेन से सूक्ष्म की प्रतीकता को हम हटा दें, तो यह कहा जा सकता है कि रतनसेन देही साधक है और पदमावती साध्य । उस समय साधक द्वारा साध्य की प्राप्ति हो जाने के पश्चात्, साधक के भौतिक-शरीर-त्याग के रूप में, हम देवपाल-नृत्त का समाधान कर सकते हैं ।

हमारा अभिप्राय जायसी की विचार-परंपरा अथवा भाव-परंपरा से विवाद करने का नहीं है । वस्तुतः विवाद करने की जायसी में कोई गुंजाइश नहीं, क्योंकि हमारी धारणा है कि काव्य में शुद्ध अद्वैत कहीं मिल ही नहीं सकता । * शुद्ध ज्ञान निवृत्तिरूप

*कबीर की समीक्षा में जो थोड़ा सा विवाद उठाया गया था वह कबीर के उल्लेख हुए व्यक्तित्व के कारण । कबीर और जायसी में आकाश-पाताल का अन्तर है । कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व में कवि नहीं हैं, वे एक विचारक हैं और, अपने विचारों में भ्रान्त होते हुए भी, उन्हें अपने विचारकपद और ज्ञान का गर्व है, जैसा कि केवल निराकार को माननेवाले आजकल के बहुत से प्लेटफार्म-प्रचारकों में देखा जाता है ।

होने के कारण उमके साथ काव्य की प्रवृत्तिमूला भावसंभूति का रहना असंभव है। शुद्ध ज्ञान जीवन्मुक्त का ही होना है और उसकी कल्पना जीवन्मुक्त हुए बिना नहीं की जा सकती—केवल परिभाषाओं को पकड़ कर यह कहा जा सकता है कि वह असंप्रज्ञात समाधि की सच्चिदानन्दमयी अवस्था है। जीवन्मुक्त चौबीस घंटे—जागता, बर्म करता, हुआ भी—समाविस्थ रहता है। जीवन्मुक्त की अवस्था में मन, चित और आनन्द का भी विभेद नहीं रहता और जीवन्मुक्त स्वयं सब प्रकार की उपाधियों से विहीन, 'निर्गुण', हो जाता है। इससे पहले की अवस्थाओं में, कम या अधिक परिमाण में, ज्ञान की पिण्डा रहती है, जो स्वयं एक प्रवृत्ति है, और इस प्रकार सगुणात्मिका है। अद्वैतवाद में माया-ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म का ऐकात्म्य सिद्धान्त है—ब्रह्म को प्राप्त करने या उस तक पहुँचने का सवाल ही नहीं—तथा प्रकृति के नामरूप 'अविद्या' अथवा माया हैं, और निरस्करणीय हैं। परन्तु जायसी की सृष्टि सौंदर्यमयी है, क्योंकि वह नाना रूपों में उस

परन्तु जायसा अपन पूर्णरूप में कवि और भावक हैं और—विचारक वे उतने और उसी तरह के हैं जैसे कि संसार के कर्म करने वाले कितने ही सरल प्राणी हुआ करते हैं। यदि हम लोग ही अपने जीवनो में टटोलें तो हमको कोई कोई ऐसे पल दिखाई देंगे जब कि हमने तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म या ईश्वर को जानने की इच्छा की होगी और अपने मन में कहा होगा कि ईश्वर को छोड़ कर और सब कुछ निःसार है।

परम ज्योति का ही प्रकाश है,—वह अपनी किसी अलग सत्ता के कारण सुन्दर नहीं। अतएव जायसी की उद्धृत चौपाइयाँ जायसी की पारमार्थिक प्रवृत्तियों की ही द्योतक हैं। वे 'पदमावत' की कथा को वास्तविक व्याख्या नहीं है। इतना लिखने की आवश्यकता इसीलिए प्रतीत हुई कि वे (चौपाइयाँ) 'जायसी के काव्य का अभिप्राय ग्रहण कराने में भ्रामक न हो जायें। क्योंकि यद्यपि तत्त्व-दृष्टि से जायसी 'अम्वरावट' में यह कहते हैं कि—

पानी मँहँ बुला, तस यह जग उतराइ ।

एकहि आवत देखिये, एकहि जान बिलाइ ॥

तथापि अपने वास्तविक रूप में वे प्रवृत्ति-प्रधान ही हैं। अपनी प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए उन्हें जहाँ कही भी, जैसे भी, अवसर मिला है वहाँ उन्होंने उसका उपयोग किया है। उद्धृत चौपाइयों में सिद्धान्तरूप से यद्यपि उन्होंने रतनसेन को मन (अथवा जीव) और पदमावती को बुद्धि (अथवा ब्रह्म) माना है, तथापि, ग्रन्थ के भीतर, दोनों का मिलन हो जाने पर हम रतनसेन को पदमावती से यह भी कहता हुआ सुनते हैं—

“अनु धनि, तू निसिअर निसि माहाँ । हौं दिनअर जेहि के तू छाहाँ ॥”

अतएव उनके काव्य का समुचित आस्वादन करते समय हमें ऊपर कही गई बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—“जायसी की उपासना माधुर्य-भाव से, प्रेमी और प्रिय के भाव से, है। उनका प्रियतम संसार के परदे के भीतर छिपा

हुआ है। जहाँ जिस रूप में उसका आभास कोई दिखाता है वहाँ उसी रूप में उसे देख वे गढ़द होते हैं। वे उसे पूर्णतया ज्ञेय या प्रमेय नहीं मानते। उन्हें यही दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक मन अपनी पहुँच के अनुसार, अपने मार्ग के अनुसार, उसका कुछ अंशतः वर्णन करता है।”

इसलिए हम देखते हैं कि कबीर जी की भाँति जायसी ने दमरु मतों का खंडन नहीं किया, बल्कि उनके प्रति किसी न किसी अंश में प्राद्विक रुचि ही प्रदर्शित की है। सर्व प्रथम, प्रथारभ में, उन्होंने मृष्टि का लोक विश्वासानुसार वर्णन किया है। उसमें ईश्वर, जीव और संसार, ये तीन अलग अलग तत्त्व माने गये हैं, जो मुसलिम एकेश्वरवाद के अनुकूल हैं। यथा—“सुमिरौ आदि एक करतारु। जेहि जिय दीन्ह कीन्ह संसारु।” इसके बाद फिर वे मृष्टि संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों की गणना करते हैं जो कहीं तो हिंदुओं में माने जाने वाले मृष्टि-क्रम के अनुसार दिखाई देती है और कहीं मुसलमानों के मृष्टि-क्रम के अनुसार। पदार्थ-गणना तथा उस ईश्वर के गुणानुवाद के बाद ही, फिर, जायसी इन सब पदार्थों को अस्वीकार करके एक दम अद्वैतवाद के सन्निकट पहुँचते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—“सबै नास्ति वह अहथिर।”

इसके तत्काल बाद ही मालूम होता है कि “परगट गुप्त सों सरब बिआपी” अथवा अन्यत्र “परगट गुप्त सकल महँ, पूरि रहा सो नावँ।” यह वस्तुतः सूफियों के अभिव्यक्तिवाद का स्वरूप है। कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत के भी दर्शन हो जाते हैं जैसे “अखरावट” में

“खा-खेलार जस है दुइ करा । उहै रूप आदम अवतरा ।” इस अर्द्धाली में आदम का जो जिक्र है, वह मुमलमानो और ईसाई मन के अनुसार है। आदम के बारे में ‘अखरावट’ में ही अन्यत्र अधिक स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “ग्वानि गोहूँ कुमति भुलाने । परे आइ जग महँ पछिताने ।”

साधना-कर्म के लिए जायसी ने हठयोग की पद्धति का निम्न-लिखित रूपक में उल्लेख किया है—

टा-टुक झौंकहु सातो खंडा । खंडे खंड लखन बरखंडा ।
 पहिल खंड जो सर्नाचर नाऊँ । लगि न अँटकु, पौरी महँ ठाऊँ ।
 दूसर खंड बृहस्पति तहवाँ । काम-दुवार भोग-घर जहवाँ ।
 तीसर खंड जो मंगल जानहु । नाभि-कमल महँ मोहि अस्थानहु ।
 चौथ खंड जो आदित अहई । बाईं दिसि अस्तन महँ रहई ।
 पाँचवँ खंड सुक्र उपराही । कंठ माहँ औ जीभ-तराही ।
 छठवँ खंड बुद्ध कर बासा । दुइ भौहन्ह के बीच निवासा ।
 सातवँ सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुआर ।
 जो वह पँवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार ॥

हठयोग की साधना के साथ जायसी ने ‘पदमावत’ में मृफ़ी साधना की चार अवस्थाओं को भी मिलाया है—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार ।
 चारि घसेरे सौ चढ़ै, सत सौं उतरै पार ॥

पदमावत को पढ़ने से मालूम होता है कि जायसी की विशेष प्रवृत्ति सूफ़ी, मत की ओर ही थी। सूफ़ियों के अनुसार ईश्वर की

कल्पना बड़ी ही सौन्दर्यमयी और माधुर्यपूर्ण है और यह समस्त चराचर जगत् उस ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है ! अतः मृफ़ी महानुभाव जगत् के नाना पदार्थों और स्वरूपों को स्वाधीन सत्ता न मानते हुए भी उन्हें गृणा की वस्तु नहीं समझते, प्रत्युत वे उनमें भी परम ज्योति के ही प्रकाश और सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न करते हैं । परम ज्योति के संबंध में उनके इस प्रयाम में कोमलता और भावुकता रहती है जो परम ज्योति के प्राने उनके प्रेम और विरह का अप्रस्तुत स्वरूप होनी है ।

यही स्वरूप रहस्यवाद का भी है । रहस्यवाद में भी, स्तुप्य भौतिक रूपाकारों और दशाओं में किसी ईश्वरीय सत्ता या अभिप्राय को ढूँढा करता है । अतएव जायसी हमारे सामने रहस्यवादी कवि के नाते से भी उपस्थित होते हैं । उनका पदमावन समनवियों के ढंग का होने पर भी महाकाव्य है और भौतिक प्रेम-रहानी के बहाने, उसमें कवि के ईश्वर-संवादी उल्लाम, प्रेम तथा विरह की मनोमुग्धकरी व्यंजना है । नीचे का दोहा जगत् के पदार्थों में उस परोक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब हेतु के रूप में देख रहा है—

नयन जो देखा कैवल भा, निरमल नीर सररीर ।

हँसत जो देखा हंस भा, दमन-जोति नग हार ॥

संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों और जीवों में जो राग (या अनुराग) दिखाई देता है वह इसलिए कि सब कुछ उसी के रंग में रंगा हुआ है । निम्नलिखित चौपाइयों में कहा है—

सूरज बूढ़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेम्ब बन राता ।

भा बसन्त राती बनसपती । औ राते सब जोगी जती ।

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू । औ राते सब पंखि पखेरू ।
 राती सती, अगिनि सब काया, गगन मेघ राते तेहि छाया ।
 हर किसी के एक ही तरह के रंग मे रँगे होने का भी कुछ मर्म
 होता है । हाँ, हर कोई उसके रूप-वाण अथवा विरह-वाण से बिंधा
 हुआ है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा । बेधि रहा सगरी संसारा ।
 गगन नखत जो जाहि न गने । वै सब बान ओहि के हने ।
 इसीलिए मृष्टि मे जो यह हलचल और दौड़-धूप दिखाई
 देती है, सब उसी को पाने के लिए है -

चाँद सुरुज औ नखत तराई । तेहि डर अंतरिख फिरहि सबाई ।
 पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा । मारा तेम लोटि भुईँ गहा ।
 अगिनि उठी, जरि बुझी बिआना । भुओ उठा, उठि बाज बिलाना ।
 पानि उठा, उठि जाइ न छुआ । बहुरा रोइ, आइ भुईँ चआ ।

परन्तु वह किसी के भी हाथ नहीं आता । क्या विकलता के
 कारण सब को दिग्भ्रम हो गया है, इसलिए ? क्योंकि वह तो सब
 के भीतर ही विद्यमान है । और, भीतर ही विद्यमान होता हुआ भी
 नहीं मिलता, यह सब से बड़ा रोना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई । को रे, मिलाव, कहाँ केहि रोई ।

रहस्यवादी प्रवृत्ति के ये परोक्ष-संबंधी लक्ष्य 'पदमावन' मे
 स्थान-स्थान पर मिलते हैं और कथा-प्रसार मे वे प्रायः अप्रामाणिक
 या उखड़े हुए नहीं मान्य होते । अधिकतर रहस्यवादी भाव
 व्यंग्य ही हैं—पात्र या दृश्य के सौन्दर्य आदि की आड़ मे ही

सारतत्त्व के सौंदर्य आदि का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ, पारमार्थिक मूलतत्त्व के प्रतीक पात्ररूप में पदमावती, और कहीं-कहीं रतनसेन, हैं। योगदृष्टि से 'नव पौरी बाँकी, नवगंडा। नवों जो चढ़े जाइ बरगंडा' तथा 'दसवें दुआरा' कह कर शारीरिक विभागों और ब्रह्मरन्ध्र का जो संकेत किया गया है वह प्रकृत-पक्ष में सिंहलगढ़ की दुर्गमता तथा ऊँचाई का वर्णन है, जिसमें 'बरगंडा' का अर्थ 'आकाश' है।

रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति हमें उन सब स्थानों में देखने को मिलेगी जहाँ किसी विशेष परिस्थिति या दृश्य से कवि एकदम प्रभावित हो उठता है और उसे उसके द्वारा ईश्वर की याद आजाती है। परन्तु यह समझना कि 'पदमावत' में सर्वत्र, पंक्ति पंक्ति में, रहस्यवाद ही रहस्यवाद है हमारी भूल होगा। लौकिक कथा की दृष्टि से लौकिक व्यवहार, कथा-संबंध तथा स्वाभाविकता के सामंजस्य के लिए कवि ने प्रकृत घटनाओं और व्यक्तिगत मनोवृत्तियों को सर्वत्र प्रोत्साहन दिया है जिनमें किसी आध्यात्मिक उद्देश्य को ढूँढना अप्रयोजनीय होगा। परन्तु यहाँ भी हम मूर्खी और रहस्यवादी महात्मा की विशेषता को पूर्ण रूप से पाते हैं। ऐसे स्थलों में भी जायसी ने अपनी सरल सुभग सहानुभूति से काम लिया है।

मानवीय भावों तथा अवस्थाओं का सृष्टि के साथ सामंजस्य हमें जायसी में सर्वत्र मिलता है। बारहमासा-वर्णन और नखशिख वर्णन करने की काव्य में परिपाटी सी बनी हुई थी। बहुत से

कवियों ने इस परिपाटी का भाव-विहीन मूक परिपालन किया है। जायसी के पदमावत में भी बारहमासा-वर्गन और नखशिख-वर्गन आए हैं, पर ये परिपाटी का पालनमात्र न होकर उस सामंजस्य की ओर भावुकतापूर्ण दृष्टि रखते हैं जिसका अभी जिक्र किया गया है। उनका नागमती के विरह का वर्णन, जड़ों, एक ओर, नागमती के वेदना से भरे हुए हृदय का अति द्रावक चित्र है, वहीं, दूधरी ओर, वह जेप मृष्टि से संवेदनशक्ति और महानुभूति को भी प्रतिष्ठित देखना है।

ऐसे स्थलों पर आई हुई प्रकृति में हमको उसके अंतर्लान् चिद्भाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकृति के वाच्य दृश्य मानो मनुष्य के अंतर्जगत् के ही प्रतिबिम्ब हैं। इस दृष्टि में हम, यदि चाहें तो, जायसी के ऐसे वर्णनों में 'छायावाद' की भी एक स्थूल परंतु मनोहर झलक देख सकते हैं। 'स्थूल' इसलिए कि वह प्रायः हेतुकल्पना अथवा स्पष्ट-कथन के रूप में है। परंतु साथ ही उसमें भावुकता की वह गहरी नह जमी रहती है जो आजकल की 'छायावादी' कहलाने वाली अधिकांश कविताओं में देखने को नहीं मिलती। विरहिणी नागमती अपनी अवस्था कह रही है—

बरसै मेह, चुवहि नैनाहा । छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा ।

पदमावती और नागमती में जब सौनिया-लड़ाई होती है तो रतनसेन समझाना है—

एक बार जेह पिय मन वृक्षा । सो दुसरे सों काहे क जूसा ।

धूप छाँह दूनौ एक रंगा । दूनौ मिले रहहि एक संग ।

चित्तौड़गढ़ को लौटते समय समुद्र में तूफ़ान आने के कारण अपने पति से बिछुड़ी हुई पद्मावती अपनी दशा का वर्णन करती है—

आवा पवन विछोह कर, पाट परा बेकरार ।

तरिवर तजा जो चूरि कै, लागौ केहि के डार ॥

यदि इन उदाहरणों में से इनके प्रसंगों को हटा लिया जाय तो क्या ये पद्य मनुष्य-जीवन के किन्हीं व्यापक सत्यों के प्रकृति-गत प्रतिबिम्ब नहीं दीखने लगेंगे ?

जायसी बड़े ही भावुक कवि थे । उनके रोम रोम में जैसे भावुकता भरी हुई थी । साधारणतया यह देखने में आएगा कि पद्मावत की पंक्ति पंक्ति में से जैसे भावुकता फूटी पड़ रही हो । जायसी ने जहाँ कहीं विरह का वर्णन किया है वहाँ तो उन्होंने मानो अपना हृदय ही निकाल कर रख दिया हो । नागमती का विरहवर्णन हिंदी साहित्य में अद्वितीय है । यह सच है कि इसमें कहीं कहीं उन्होंने बहुत अधिक अत्युक्ति से काम लिया है; परंतु उनकी अत्युक्तियाँ अधिकतर वेदना की गंभीरता दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुई हैं, कल्पना की सरपट-चाल दिखाने के लिए नहीं, यथा—

जरत बजागिन करु पिउ छाहीं । आइ बुझाउ, अंगारन्ह माहीं ।

लागिउँ जरै जरै जस भारू । फिरि फिरि भूँजैसि, तजिउँ न बारू ।

मानवीय दशाओं के साथ प्रकृति की प्रतिसंवेदिता तथा उनसे उसके प्रभावित होने के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) अस परजरा विरह कर गठा । मेघ साम भए धूम जो उठा ।
 दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा । सूरज जरा, चाँद जरि आधा ।
 औ सब नखत तराई जरहीं । टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं ।
 जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ । दहकि पलास जरै तेहि दाऊ ।
 (ख) फिरि फिरि रोव, कोइ नहि डोला । आधी राति बिहंगम बोला ।
 तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी । केहि दुख रैन न लावसि भाँखी ।
 नागमती की विरहावस्था के वर्णन में भावुकता अपनी चरम
 कोटि को पहुँच गई है । दो-चार उदाहरणों से ही पता लग
 सकता है, जैसे—नागमती विलाप करती है—

(क) यह तन जारौं छार कै, कहौ कि 'पवन उड़ाव' ।

मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव ॥

(ख) पिय सौ कहेहु सँदेसड़ा, हे भौरा, हे काग ।

सो धनि वरहै जरि मुई, तेहि क धुवौं हम लाग ॥

(ग) नहि पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसंत ।

ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥

(घ) हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब तौंति ।

रोवँ रोवँ ते ध्वनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति ॥

(ङ) पदमावति सौ कहेहु, बिहंगम । कंत लोभाइ रही करि संगम ।

तू घर घरनि भई पिठ-हरता । मोहि तन दीन्हेसि जप औ बरता ।

हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जान पर जीऊ ।

अबहु मया करु, करु जिउ फेरा । मोहि जियाउ कंत देह मेरा ।

मोहिं भोग सौं काज न, बारी । सौंह दीठि कै चाहनहारी ।

भावचित्रण के अनिश्चित दृश्य-चित्रण भी जायसी का बड़ा सफल हुआ है। वह किसी दृश्य को नेत्रों के सामने उपस्थित करने के साथ ही साथ उस दृश्य से संबंध रखने वाले भावों की व्यंजना करने में भी समर्थ होता है। उसके भी दो चार उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(क) धन अमराट लाग चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लागि अकासा ॥
तरियर सबै मलयगिरि लाई । भइ जग छोड़, रैन होइ आई ॥
मलय-समीर सुहावनि छाहीं । जेठ जाइ लागै तेहि माहीं ॥
ओही छाँड़ रैन हाँड़ आवै । हरियर सबै अकाम देखावै ॥
पथिक जो पहुँचै सहिकै घाम् । दुख बिसरै, सुख हाँड़ बिसराम् ॥
—(शान्त)

(ख) पुनि किलकिला समुद महीं आए । गा धीरज देखन डर खाए ॥
भा किलकिल अम् उठे हिलोरा । जनु आकास टूटै चहुँ ओरा ॥
उठे लहरि परबत कै नाई । फिरि आवैं जोजन सो ताई ॥
धरता लेइ सरग लहि बाढ़ा । मरुत समुद जानहुँ भा ठाढ़ा ॥
नीर होइ तर ऊपर मोई । साथे रंभ समुद जस हाँड़ ॥
फिरत समुद जाजन सो ताका । जैसे भँवै कोहोर क चाका ॥

—(अद्भुत)

(ग) लंका कर राकम अति कारा । आवै चला होइ अंघियारा ॥
पोच मूँड़, दस बाही ताही । दहि भा साँव लंक जब दाही ॥
धुआँ उठै मुख साँस सँघाता । निकसै आगि कहै जौ बाना ॥
फँकरे मूँड़ चँवर जनु लाए । निकास दाँत मुँह बाहर आए ॥
देह रीछ कै, रीछ डेराई । देखत दिस्ति धाई जनु खाई ॥
—(भयानक)

(घ) रथहिं चढ़ी सब रूप सोहाई । लेइ बसंत मउ मँडप सिधाई ॥
 नवल बसंत, नवल सब बारी । सेंदुर बुक्का होइ धमारी ॥
 ग्विनहिं चलहिं, ग्विन चौचरी होई । नाच कूद भूला सब कोई ॥
 मँदुर-खेह उड़ा अस, गगन भणउ सब रात ।
 राती मगरिउ धरता, राते बिरिछन्ड पात ॥

—(क्रियावर्णन)

(ङ) अस के अवर अमी भरि राखे । अवहिं अछूत न काहू चाखे ॥
 दमन चौक ब्रैटे जनु हीग । औ बिच बिच रँग म्याम गँभीरा ॥
 जस भादौ निमि रामिनि दासी । चमकि उठे तम बनी बतीसी ॥
 जेहि दिन दसन जोति निरमट । बटुते जाति जोति ओहि भई ॥
 जहँ जहँ 'वहँ'गि मुभावहिं हँसा । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसा ॥

—(सौन्दर्य-वर्णन)

कही कही वर्ण्य नश्य का अनिश्चित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वर्णन में वस्तु-वर्ण्य का भी आश्रय ले लिया गया है । प्रला-उहीन ने जिस समय आकर चित्तों उ गढ़ को घेरा था उस समय वहाँ आम के पौधे लगाए थे । वे बड़े होकर वृक्ष भी होगए, परन्तु किला सर न हो सका—

आइ साह अमराव जो लाग । फर, क्षरे, पे गढ़ नहि पाए ।

वर्ण्य वस्तु का विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अलंकारों से हमेशा सहायता ली जाती है । जायसी में तो प्रभाव की ही विशेषता है, अतः इन्होंने अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग किया है और सब ही तरह के अलंकार काम में लिए हैं—विशेषतः

सादृश्यमूलक—परन्तु उन सब की तह में अतिशयोक्ति का आधार लगभग सदा ही रहता है। पर, दो-चार स्थानों को छोड़कर, जहाँ कि अलंकार का प्रयोग भावोत्कर्ष का साधक न बनकर भावग्लानि पैदा करने वाला हो गया है, जायसी का अलंकार-विधान सर्वत्र भावोद्दीपन का ही कारण बना है। जायसी के अलंकार काव्य-कौतुक अथवा नकली चमत्कार के लिए नहीं होते—वे ज्यादा पढ़े-लिखे विद्वान ही नहीं थे—प्रत्युत वे भी कवि में लबालब भरी हुई भावुकता के ही स्वाभाविक अंग हैं। पीछे दिए गए उदाहरणों से इसका प्रमाण मिल जाएगा।

जायसी की भावुकता प्रेम अथवा शृंगार-रस की है। संभोग का वर्णन कम है, अधिकतर विप्रलम्भ को ही प्रधानता दी गई है, जो स्वाभाविक है। मुफ्ती-रहम्य-वादी मार्ग में 'प्रेम की पीर', विरह, का ही विशेष महत्त्व है।

प्रबंध-काव्य की दृष्टि से जायसी के संबंध-निर्वाह अथवा घटना-संगठन के बारे में हम पं० रामचन्द्र शुक्ल के साथ साथ यह कह सकते हैं—“जायसी का संबंध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की शृंखला बराबर लगी हुई है। कथा-प्रवाह खंडित नहीं है, जैसा कि केशव की रामचन्द्रिका का है जो अभिनय के लिए चुने हुए फुटकर पद्यों का संग्रह सी जान पड़ती है। जायसी में विराम अवश्य हैं—जो कहीं कहीं अनावश्यक हैं—पर विवरण का लोप नहीं है जिससे प्रवाह खंडित होता हो।”

प्रबंध की दृष्टि से केवल एक बात सबसे अधिक खटकने वाली

है—देवपाल का प्रकरण और उसी के द्वारा, उसी में, कथा का उपसंहार होना। यदि पदमावती के मनी होने को ही 'पदमावत' का 'कार्य' माना जाए, जैसा कि शुक्त जी का विचार है, तो भी उस 'कार्य' को संपन्न करने के लिए कथा के बिलकुल अन्त में एक ऐसा नया प्रसंग ले आना, जिसका कि कहानी की क्रिमी भी पूर्व-घटना से निःसार न होता हो, जबरदस्ती की ट्रॅमटॉस है। यह प्रसंग स्वाभाविक बन जाना यदि पहले कहीं, किमी मिलसिले से, रतनसेन और देवपाल के मनोमालिन्य का दिग्दर्शन करा दिया गया होता।

परन्तु हमारी दृष्टि में तो पदमावती का मनी होना भी 'कार्य' नहीं है। रतनसेन कथा का नायक है और उसी के उद्देश्य से 'कार्य' का निर्वारण होना चाहिए। रतनसेन का उद्देश्य पदमावती को प्राप्त करना है, अतः पदमावती की प्राप्ति ही 'पदमावत' का 'कार्य' माना जाना चाहिए। यह देखते हुए कथा का उपसंहार भी नायक द्वारा 'कार्य' की प्राप्ति के बाद हो जाना चाहिए था। अथवा यदि कवि का उद्देश्य कथा को दुःखान्त बनाना ही था तो वह पदमावती की प्राप्ति होते ही नायक-नायिका में से किमी का, या दोनों का, नाश दिखा सकता था और वहीं देवपाल, या तद्रूप किसी दूसरे पात्र या तत्त्व को इस 'कार्यक्षय' का माध्यम बना सकता था। परन्तु एक बार 'कार्य' की सिद्धि द्वारा 'फलागम' हो जाने पर देवपाल की कथा एक स्वतंत्र-रूप में ही हमारे सामने आती है, मूल कथा के अंगस्वरूप में नहीं। वह एक भिन्न प्रबंध-काव्य का विषय बन सकती थी।

नायक के दृष्टिकोण से, पदमावती के मनी होने को 'कार्य' मानने में दूसरी बाधा फिर यह होती है कि 'कार्य' के संपन्न होजाने पर भी नायक के लिए 'फलागम' नहीं होना, क्योंकि नायक तो पहले ही मर चुका है। पुनः यदि 'फलागम' भी मान लिया जाए तो हमें 'पदमावत' को सुखान्त प्रबंध मानना पड़ेगा। परन्तु क्या 'पदमावत' सुखान्त है ?

प्रबंध-रचना में चरित्र-चित्रण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु जायसी को हम उस दिशा में कच्चा पाते हैं। या कदाचिन् जैसा कि पं० रामचन्द्र जी शर्मा का विचार है, "जायसी का ध्यान स्वभाव-चित्रण की ओर बैसा न था"। जायसी के सब पात्र अपने अपने चरित्र में पूर्ण निर्दिष्ट नपे-तुले, खराद से उतारे हुए हैं। वे जैम हैं वैपे ही हैं—हर समय, हर वृत्ति। जायसी को कदा 'सचारियाँ' की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मूढ़म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें किसी भी पात्र के चित्रण में दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका कि अद्भुत वैभव हम तुलसीदास के प्रत्येक गौण से गौण—पात्र में देखते हैं। जायसी की यह त्रुटि किसी ग्रंथ में शायद सूफियों की 'प्रेम की पीर' के आदर्श के कारण हो।

परन्तु जो पात्र हम 'पीर' से पीड़ित नहीं हैं, उनमें भी तो हमें चित्रण नहीं मिलता—अलाउद्दीन, राघव चेतन, देवपाल, उसकी दूती, पार्वती, महादेव, गंजवसेन, समुद्र, लक्ष्मी। चित्रण की कला को प्रायः दुर्लभ पात्रों में अधिक आसानी से सार्थकता प्राप्त हो सकती है, परन्तु जायसी ने उनमें भी कोई चित्रण-प्रवृत्ति नहीं

दिखाई। एक प्रकार से हम देखते हैं कि चार पात्रों (रतनसेन, हीरामन, पद्मावती और नागमनी) के अतिरिक्त और किसी पात्र के संबंध में—एक राघवचरित को छोड़कर—जायसी का कोई दृष्टिकोण ही नहीं है—वे जैसे कथा के मिलमिले से फ़क़्त आ भर ही गए हैं। राघवचरित के विषय में जो कवि का कुछ दृष्टिकोण बन सका है सो केवल इसलिए कि वह वेद-विधि से विपरीत मार्ग पर चलता था, उसने यज्ञिणा मिद्ध की थी। वस्तुतः समस्त काव्य में एक राघवचरित के—यज्ञिणी आदि मिद्ध करने वालों के—प्रति ही हम जायसी की थोड़ी-सी विरोध-प्रवृत्ति देखते हैं। अन्यथा, समस्त मानवता व्यक्ति, मनुष्य, पंथ आदि—के लिए उनकी सहिष्णुता ही दृष्टिकोचर होनी है। सहिष्णुता का इस प्रवृत्ति के कारण तुलना करने की प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती फिर दृष्टिकोण ही कहा में बनेंगे और दृष्टिकोणों के अभाव में चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति का न होना भी स्वाभाविक ही है।

जायसी ने अपने दोनों ग्रंथों की रचना अपने समय की बोल-चाल की व्यवधी भाषा में की है। उस समय की बोल-चाल की भाषा में होने के कारण इन रचनाओं में शब्दों की दुरुहता आ गई है। परन्तु जायसी के कहने का दृग उनका अकृतिस है कि उसमें हृदय की प्रेरणा हर कही उभरी हुई दीखती है, जिसके कारण जैली में प्रवाह और माधुर्य पूर्ण रूप में भरा हुआ है और उनके काव्य को पढ़ने में आनन्द आता है।

जायसी में भी हमको बहुत-सी मृत्तियाँ मिलती हैं। अन्तस्

में से ही वे निकली हैं, इसलिए वे हृदयस्पर्शिणी हैं—विशेषतः प्रेम-संबंधी उक्तियाँ। कुछ नमूने देखने चाहिएँ, जैसे—

(क) जेहि के हिये पेम-रँग जामा । का तेहि भूख नींद बिसरामा ।

(ख) पेम-समुद मँहँ बाँवा बेरा । यह सब समुद वूँद जेहि केरा ॥

(ग) पेम के आगि जैरे जो कोई । दुख तेहि करन (अ?) बिरथा होई ।

(घ) जग मँहँ कठिन खड़ग के धारा । तेहि तें अधिक बिरह के क्षारा ।

प्रेम-विषय से भिन्न भी कुछ उक्तियाँ मिलती हैं, यथा —

(क) ठाकुर जेहिक मूर भा कोई । कटक मूर पुनि आपुहि होई ॥

(ख) मनुआ चाह दरब औ भोग । पंथ भुलाई बिनासै जोगू ॥

(ग) माटी मोल न किछु लहै, औ माटी सब मोल ।

दिस्टि जो माटी सौं करै, माटी होइ अमोल ॥

(घ) बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस ।

बृदी भाउ होहु तुम्ह, केइ यह दान्ह असांस ॥

निष्कर्ष में यह कह देना आवश्यक मालूम होता है कि जायसी का स्थान हमारे हिन्दी साहित्य में बहुत ही ऊँचा है। सूरलता, साधुता, सौजन्य, भावुकता आदि गुणों से तुलसीदास जी और सूरदास जी के बराबर ही इनको भी स्थान देना चाहिए। ऊपर की विवेचना से जायसी के अनेक कवि-गुणों तथा मानव-गुणों का आभास हमें अवश्य मिल गया है। उनके व्यक्तित्व की ओर भी विशेषताओं को जानने के लिए हमें पं० रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द पढ़ लेने चाहिए—“तत्त्व-दृष्टि-संपन्न होने के कारण जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा,

अनधिकार-चर्चा, समाज-विद्वेष इनकी उदारता के लक्षण नहीं थे । व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर भी लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रतिष्ठित आदर्शों को ये प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे ।.....साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनों के तत्व को ये समझते थे । लोक-मर्यादा के अनुसार जो सम्मान की दृष्टि से देवे जाते हैं उनके उपहास और निन्दा द्वारा निम्नश्रेणी की जनता की ईर्ष्या और अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करके यदि ये चाहते तो ये भी एक नया 'पंथ' गूँडा कर सकते थे । पर इनके हृदय में यह वासना न थी । पीरों, पैगंबरों, मुल्लाओं और पंडितों की निन्दा करने के स्थान पर इन्होंने ग्रंथारंभ में उनकी स्तुति की है और अपने को "पंडितों का पछलगा" कहा है ।

“विधि पर इनकी पूरी आस्था थी । 'वेद पुराण' और 'कुरान' आदि को ये लोक-कल्याण-मार्ग प्रणिपादित करने वाले वचन मानते थे.....।”

गोस्वामी तुलसीदास जी

तुलसीदास जी के जीवनवृत्त का परिचय कई प्राचीन आधारों से प्राप्त होता है, यथा—बाबा वेणीमाधवदास कृत 'गोमाई-चरित', नाभादास जी का 'भक्तमाल', 'भक्तमाल' पर प्रियादास जी की टीका, राजा प्रतापसिंह का 'भक्ति कल्पद्रुम', महाराज विश्वनाथसिंह का 'भक्तमाल', तथा महान्यास रघुवरदास जी का 'तुलसी-चरित'। 'तुलसी-चरित' के विषय में केवल श्रीयुत इन्द्रदेवनारायण जी ने ज्येष्ठ १९६६ की 'मर्यादा' पत्रिका में कुछ सूचना दी थी। और कहीं से इस ग्रंथ का अभी तक कोई पता नहीं चला है।

'तुलसी-चरित' के अनुसार गोस्वामी जी मुरारिभिश्च के लड़के तुलाराम थे। तुलाराम के तीन विवाह हुए। तीसरी स्त्री की प्रेरणा से उन्हें वैराग्य हुआ।

परन्तु इस वर्णन की पुष्टि दूसरे आधारों से नहीं होती। इनके बारे में बहु-सम्मत विश्वास यह है कि ये राजापुर, जिला बाँदा, के रहने वाले थे, इनके माता-पिता का नाम हुलसी तथा आत्माराम था, तथा दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से इनका विवाह हुआ था। ये पाराशर गोत्र के सरयूपारी ब्राह्मण थे।

इनके जन्मकाल के संबंध में भी कई मत हैं । १५५४, १५८३ और १५८६—ये तीन संवत् इनके जन्म के अलग अलग बताए जाते हैं । पहला संवत् श्री शिवलाल जी पाठक की 'मानस-मयंक' नामक रामचरितमानस की टीका के अनुसार है । परन्तु इनका मृत्यु-संवत् १६८० सर्वसम्मत है । इस प्रकार भिन्न भिन्न मतों के अनुसार इनकी आयु क्रमशः १२७, ६७ और ६१ वर्ष की ठहरती है । तुलसीदास जी अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे ।

इनके विषय में एक और भी कहावत प्रचलित है कि ये चारह मास गर्भ में रहे, और जब पैदा हुए तो पाँच वर्ष के बालक के समान मातृम होते थे तथा इनके मुँह में दाँत थे । पैदा होने ही इनके मुँह से 'राम' शब्द निकला । इन सब लक्ष्णों का देख कर इनके माता-पिता भयभीत हुए और उन्होंने इन्हें घर से निकाल दिया । पैदा होने के बाद ही इन्हें मुनिराँ नामक दासी को पालने के लिए सौंप दिया गया ।

संवत् १५६१ में नरहरिदासजी इन्हें अपने साथ ले गए और इन्हें शिक्षा देने लगे । ये नरहरिदासजी ही इनके गुरु थे और इस बात की पुष्टि रामचरितमानस की पंक्ति "बन्दीं गुरुपद-कंज कृपा-सिंधु नर-रूप हरि" से भी की जाती है ।

"गुरु के साथ काशी आने पर, वहाँ महात्मा शेषसनातन जी ने इन्हें देखा और वे इनकी तीक्ष्ण बुद्धि को देख कर बड़े प्रमन्न हुए । उन्होंने इन्हें पन्द्रह वर्ष तक वेद, पुराण, दर्शन, काव्य आदि का अध्ययन कराया । तदुपरान्त तुलसीदासजी राजापुर लौट

आप । वहाँ इनके मकान की बड़ी दुर्दशा हो रही थी और इनके वंश का कोई मनुष्य नहीं रह गया था । तुलसीदासजी मकान को ठीक कराकर वहीं रहने लगे ।” इसके बाद ही इन्होंने अपना विवाह भी किया ।

इनकी स्त्री बड़ी रूपवती थी और ये उस पर बहुत आसक्त थे । उसका वियोग पल भर भी न सह सकते । इस पर इनकी स्त्री ने एक बार इन्हें यों समझाया—

अस्थि-चरम-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति ।

तैसी जो श्रीराम महँ, हांत न तो भव भीति ॥

यह बात तुलसीदासजी के हृदय में ऐसी लगी कि तत्क्षण ही इन्हे बेराग्य हो गया और फिर पत्नी के बहुत कुछ मनाने पर भी वे गृहत्याग कर काशी चले गए ।

कहा जाता है तुलसीदासजी को रामदर्शन हुए थे । अपने नित्य-कर्म का बचा हुआ जल ये एक पीपल के वृक्ष में डाल दिया करते थे जिस पर एक प्रेत रहता था । एक दिन वह संतुष्ट होकर इनके सामने प्रकट होगया और इनसे कुछ माँगने को कहने लगा । जब इन्होंने रामचन्द्रजी के दर्शन माँगे तो उसने उपाय बताया कि अमुक स्थान पर हनुमान जी बृद्धे ब्राह्मण का वेप रख कर आते हैं और वे रामदर्शन करा सकते हैं । तुलसीदासजी ने उसके संकेत को ग्रहण कर हनुमान् जी के द्वारा राम-दर्शन पाया ।

कितनी ही चमत्कार की कथाएँ भी तुलसीदास जी के संबंध में कही जाती हैं । सम्राट् अकबर के द्वारा इनके कैद कर लिए

जाने की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। अकबर ने इन्हें बुलवा कर इनसे कोई चमत्कार दिखाने को कहा पर तुलसीदास जी ने उत्तर दिया कि मैं तो केवल राम का नाम जानता हूँ, कोई चमत्कार नहीं जानता। इस पर जब बादशाह ने इन्हें कैद में डाल दिया तो तुलसीदास जी ने हनुमान् जी से विनय की। परिणाम यह हुआ कि असंख्य बंदर न मालूम कहाँ से आकर बादशाह के कोट को विध्वस्त करने लगे और बादशाह ने आकर तुलसीदास जी से क्षमा याचना की और इन्हें मुक्त कर दिया।

अयोध्या और चित्रकूट को छोड़ कर तुलसीदास जी अधिकतर काशी में ही रहे जहाँ, इनके निवासस्थान मुख्यतः 'अम्सीघाट' और 'संकटमोचन' थे। कहा जाता है कि संकटमोचन में हनुमान जी की स्थापना तुलसीदास जी ने ही की थी।

विरक्त होकर गृहत्याग करने के पश्चात् तुलसीदास जी ने भगवद्भजन में लीन हो कर प्रभु की महिमा गाने में ही अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनके एक मात्र प्रभु अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र भगवान् रामचंद्र थे। गोस्वामीजी की अधिकांश रचनाएँ इन्हीं के महिमा-गान के लिए हुई हैं। वैसे तो गोस्वामीजी के बीस से भी अधिक ग्रन्थ बनाए जाते हैं; परंतु वास्तव में, उनमें से कई एक संदिग्ध हैं। तुलसीदास जी के निम्नलिखित चौदह ग्रन्थ ही अधिकतर माने जाते हैं—

१. रामचरितमानस, २. कवितावली; ३. विनयपत्रिका;
४. गीतावली; ५. कृष्णगीतावली; ६. दोहावली;

७. मनमई, ८. ज्ञानकीमंगल, ९. पार्वतीमंगल;
 १०. राम-ललानहट्ट, ११. बरधै रामायण, १२. रामाज्ञा-प्रश्न;
 १३. हनुमान-बाहुक, १४. वैराग्यमंटीपनी ।

इनमें पहले मान बड़े ग्रंथ हैं, जेप मान छोटे । रामचरितमानम मन्त्रसे अधिक प्रसिद्ध है और घर घर में उसका प्रचार है । तदुपरांत क्रमशः विनयपत्रिका और कविनावली की ग्यनि अधिक हैं ।

ऐसा समझा जाना है कि तुलसीदास जी की काव्य-रचना उनकी काफी अवस्था हो जाने के बाद आरम्भ हुई थी । काव्यक्षेत्र में पदार्पण करने करते उन्होंने बहुत कुछ संसार की प्रगति का अवश्य अनुभव कर लिया होगा और उनके विचारों, भावनाओं तथा निष्ठान्तों में प्रौढ़ता तथा स्थिरता आगई होगी । उनका विस्तृत भ्रमण तथा तरह-नरह के विद्वानों और साधु-महात्माओं में मिलना-जुलना उनके अनुभव में और भी महायक हुआ होगा । परन्तु अनुभव का उपयोग कवि के लिए तभी फलप्रद होता है जब कि उसके पास विशाल मानवता का हृदय हो, उसके हृदय में सहानुभूति का गुला भंडार हो । महात्मा तुलसीदास में यही विशेषता है कि विरक्त साधु होते हुए भी वे स्वलीन ही नहीं हैं, उनकी पूर्ण दृष्टि संसार के दूषणों और अनुतापों पर भी पड़नी है । और फिर प्रत्येक परिस्थिति का, एक चतुर वैद्य की भाँति, निदान करते हुए वे हमारे सामने उस परिस्थिति के उपचार और पश्चालन का आदर्श उपस्थित करते हैं । तुलसीदास जी शायद

भारतवर्ष के सबसे बड़े आध्यात्मिक वैद्य हैं, जिनकी चिकित्सा-प्रणाली अमोघ है।

सबसे बड़े वैद्य वे इसलिए हैं कि वे रोगी के मनोभावों और रुचि को भी समझते हैं, और उसका लिहाज रखते हैं। इसलिए उनकी चिकित्सा उद्वेगकरी नहीं है, प्रत्युत एक प्रकार का चाव उत्पन्न करने वाली है। उनके आविर्भाव के इन ३०० वर्षों में ही उनकी वाणी ने जितने अधिक प्राणियों को शान्ति और शीतलता प्रदान की है, जितने अधिक प्राणियों को उसने सुधारा या क्लेश-मुक्त किया है, उतने अधिक प्राणियों को और कितने ही धर्मगुरुओं के झुंड के झुंड भी इतने थोड़े समय में समाश्वासन तक प्रदान न कर सके। उनका रामचरितमानस प्रत्येक गृह का, कोमल प्रकाश से युक्त, अक्षय स्नेह से भरा हुआ, कान्तिमान दीपक है और उनकी विनयपत्रिका प्रत्येक भक्त तथा आर्तजन की मानो रसना सी बनी हुई है। प्रभाव और समादर से रामचरितमानस के सामने केवल एक ही अन्य भारतीय ग्रन्थ दिखाई देता है—श्रीमद्भगवद्गीता। परन्तु गीता में ज्ञान ही ज्ञान है, क्लिष्ट दर्शन है, और सुखी गृहस्थियों के वह काम की नहीं। रामचरितमानस, इसके विपरीत, गृहस्थियों और विरक्तों, सब के लिए समान मंजीवनी है, जिसकी दो-चार मात्राएँ तो रास्ता चलने भी ली जा सकती हैं।

इसका एकमात्र कारण तुलसीदासजी की सगुण रामभक्ति है। उनके राम स्वयं गृहस्थ थे—माता-पिता के पुत्र थे, भाइयों के भाई, पत्नी के पति और पुत्रों के पिता थे। उनके भी कुछ मित्र थे, कुछ भक्त

थे, कुछ शत्रु थे। वे राजपुत्र थे, राजा थे, वे हिंदूों घरों के भीतर की और राज-घरों के भीतर की कूटनीति का शिकार बने थे। बाहर, एकाकी, अमहाय—केवल अपने रक्षणीय अनुज और पत्नी के साथ—उन्होंने जंगल जंगल की खाक छानी, जहाँ अनेक; नए, भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति वाले, व्यक्तियों से उनका संपर्क हुआ, जिसके कारण कहीं उन्हें हँसने को मिला और कहीं राने को। जीवन के लिए, जिन्दा रहने के लिए—केवल आत्मरक्षा या पर-रक्षा के लिए—उन्हें जितना संघर्ष करना पड़ा है, क्या इतना किसी को करना पड़ता है—और क्या कोई इनसे संघर्ष को सहन भी कर सकता है ?

पर तुलसीदासजी के राम परब्रह्म भी हैं, जिनकी इच्छामात्र से समस्त दुःखजाल पल भर में त्रिलोकी से काफ़ूर हो सकते हैं। वे जगत् का धैर्य, सहनशीलता, कर्तव्यपालन और मर्यादा की शिक्षा देने के लिए स्वयं इस जगज्जाल में आकर फँसते हैं, घोर संकटों में कातर भी होते हैं, परन्तु दृढ़ता-पूर्वक उन संकटों का सामना करते हैं और उन पर विजय पाते हैं। परन्तु वे यह भी जानते हैं कि साधारण मनुष्य इतना नहीं कर सकता, इसलिए वे जगह जगह पर अपनी शक्ति का परिचय देते हुए मनुष्य को आश्वासन भी देते हैं। जो रामचन्द्र सीता-दरण पर अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर प्राकृत जन की भाँति करुण क्रन्दन करते दिखाई देते हैं, वे वही राम तो हैं जो दूसरों को सान्त्वना देते हुए कह सकते हैं कि—

सकुच विहाइ माँगु नृप मोहीं, मोरे नहि अदेय कछु तोहीं ।

अथवा—

सम्मुख होहि जाँव मोहि जबही, जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ।

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं, मोर दरसु अमोघ जग माहीं ।

जो जानने वाले है उनके लिए तो राम परब्रह्म ही है, परन्तु जन-साधारण के आश्रित के लिए और उनमें मर्यादा स्थापित करने के लिए भगवान् मनुष्य बने है । मनुष्य रूप में आचरण करते हुए वे तो वाल्मीकि की चरण-रज सिर पर लेते हैं (और वाल्मीकि भी लोक-मर्यादानुसार उन्हें आशीर्वाद देते हैं), परन्तु जब भगवान् (अपने वनवास में) उनसे रहने के लिए स्थान माँगते हैं, तब अवश्य मुनि प्रेमविह्वल हो कर असमंजस में पड़ जाते हैं और कहने लगते हैं—

सृति-सेतु-पालक राम तुम जगदीस माया जानकी ।

जो सृजति जग पालति हरति सब पाइ कृपानिधान की ॥

जो सहस-सीस अहीस महि धरि लपन सचराचर धनी ।

सुरकाज धरि नरराजतनु चल दलन खल-निसिचर अनी ॥

राम स्वरूप तुम्हारा, बचन-अगोचर बुद्धि पर ।

अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥

जग पेखन तुम देखन हारे, बिधि-हरि-शंभु नचावन-हारे ।

तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा, और तुमहिं को जाननि-हारा ।

सो जानै जेहि देहु जनार्ण, जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।

तुम्हारी कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत-उर-चन्दन ।

चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत-बिकार जान अधिकारी ।

इसके बाद ही वे उनकी नर-लीला का मर्म भी वर्णन करते हैं—

नरन्तनु धरेहु सन्त-सुर-काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे, जड़ मोहहि बुध होहि मुखारे ।

तुम जो कहहु करहु सब साँचा, जस काछिय तस चाहिय नाचा ।

पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पृच्छत सकुचाउँ ।

जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुमहि दिखावौं ठाउँ ।

यही मंत्रोप मे तुलसीदास के रामरूप परब्रह्म का स्वरूप है । वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी बड़े हैं, केवल 'विगत-विकार अधिकारी' ही उनको जान सकता है । अपनी नर-लीला में जैसा रूप उन्होंने धारण किया है उसके अनुसार ही वे कहते और करते हैं, जो विलकुल उचित है । उनकी इस लीला को देख कर नाममग्न लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, परन्तु समझदार मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है । राम सर्वव्यापी है । तुलसीदास ने अपने भी मुँह से कहा है—

सिया-राम-मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।

जिसमें भगवान की सर्वव्यापकता के अनिरिक्त तुलसीदास की भावमयी तदात्मता भी लक्ष्य है । तदात्मता और भावविभोरता तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि—

स्याम-गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन-नयन बिनु बानी ।

राम प्रणत-पाल हैं, दयालु हैं, शरणागत-रक्षक हैं । वे कहते हैं—

कोटि विप्र भघ लागइ जेही । आए सरन न त्यागउँ तेही ।

उन्होंने विभीषण को शरणा दी है और सुग्रीव के त्रास को दूर किया है। उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। अकारण ही वे प्रसन्न हो जाते हैं और प्रसन्न होकर बड़े से बड़ा फल दे डालते हैं।

कोमल चित अति दीन-दयाला । कारण बिनु रघुवीर कृपाळा ।
प्रमाण यह है कि—

‘गृध्र अधम खग आमिष-भोगी । गति तेहि दीन्ह जो याचत योगी ।
उनको किसी से कुछ नहीं चाहिए; केवल प्रेम, सरलता और निष्कपटता से ही वे द्रविण हो जाते हैं। जिस समय बालि ने कहा—

सुनहु राम स्वामी सुभग, चल न चातुरी मोरि ।

प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अंतकाल गति तोरि ॥

तो—सुनत राम अति कोमल बानी, बालि सीस परसेउ निज पानी ।

अचल करौं तनु राखहु प्राण, ‘.....’ ॥

परन्तु वही राम, जो इनन कामल है, भक्तों और मन्त्रों के हित के लिए घोर दुष्ट-संहारक भी है—

जो अपराध भगत कर करई, राम-रोस-पावक सो जरई ।

तथा—निसिचर-हीन करौ मही, भुज उठाइ प्रन कान्ह ॥

सकल मुनिन्ह के आस्त्रमन्ह, जाइ जाइ सुख दांन्ह ।

उनका अवतार ही इसके लिए हुआ है और सारी रामायण ही इसका उदाहरण है। तुलसीदास जी सगुण भक्ति के साधक थे, यद्यपि निर्गुण का भी इन्होंने अमान्य नहीं ठहराया है। परन्तु एक-मात्र विशेषता इन्होंने सगुणोपासना को ही दी है। सगुणोपासना का आधार भक्ति है और निर्गुणोपासना का आधार ज्ञान। भक्ति

मनुष्य की सहज भाव-परंपरा की पराकाष्ठारूपिणी अवस्था है और इसलिए सरल है। ज्ञान-मार्ग शुद्ध है और उस पर स्थिर रहना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसीलिए कहा गया है कि—

ज्ञान ॐ पंथ कृपान कि धारा, परत खगेस होइ नहि बारा ।
तथा—ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ॥

निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

परन्तु, वास्तव में, भक्ति और ज्ञान तथा सगुण और निर्गुण में भेद कहाँ है ? ऊपर के दोहे में जो 'अज्ञान' और 'तम' शब्द आए हैं वे उपमान न होकर केवल संसार में दिखाई देने वाले द्वित्व-भाव के उदाहरण हैं। लौकिक न्याय में सत्तात्मक पदार्थ का बोध असत्तात्मक पदार्थ के द्वारा ही होता है। अन्धकार के बिना प्रकाश का ज्ञान कैसे होगा ? इसी प्रकार संसार में जिनने भी पदार्थ या गुण आदि हैं वे अपने विरोधी असत्तासूचक पदार्थों या गुणों द्वारा जाने जाते हैं। इसी प्रकार, आध्यात्मिक पक्ष में, ईश्वर और जीव का भी द्वित्व एक है। तुलसीदास जी ने बताया है कि—

ईश्वर-अंश जीव भविनासी, चेतन, अमल सहज सुखरासी ।

इस द्वित्व में, दोनों तत्त्वों के गुण एक होते हुए भी, जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह माया के कारण—'सो माया-बस भयउ गुसाई, बँधेउ कीर मरकट की नाई।' यह माया, जो गुणों की खान है और जिसके कारण पदार्थादिक में भी गुणों का आरोप हो जाता है, जीव को अपने वश में कर लेती है, परन्तु स्वयं वह ईश्वर के वश में है—'ईस-बस्य माया गुन-खानी।' पदार्थों को नामरूपादि गुण दे

कर यह द्वित्व का कारण बनती है, अन्यथा द्वित्व तो कहीं है ही नहीं—ईश्वर और जीव भी एक ही हैं—और यह द्वित्व-भाव हरि-कृपा से दूर हो सकता है—‘मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया’ । जब यह बात है तो निर्गुण या सगुण, अथवा ज्ञान और भक्ति में भी भेद कहाँ रहा ?

ज्ञानहि भगतिहि नहि कछु भेदा । उभय करहि भव-संभव खेदा ।

इसी प्रकार द्वित्व की दृष्टि से, अथवा अद्वित्व की दृष्टि से, तुलसीदास जी के राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं । इसीलिए तुलसीदास जी उनको नर-जीला का वर्णन करते समय स्थान-स्थान पर प्रायः उनके ईश्वर-रूप का स्मरण कराते चलते हैं, यथा—

कव-निमेल महँ भुवन-निकाया, रचइ जासु अनुसासन माया ।

भगत-हेतु सोइ दीनदयाला, चितवत चकित धनुष-मख-साला ।

निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सोई धावा ।

लक्ष्मण जी को शक्ति लगाने पर जब रामचन्द्र जी विलाप करते हैं तो तुलसीदास जी शिवजी के मुख से यों कहलवाते हैं—

उमा अखंड एक रघुराई, नरगति भक्त-कृपालु दिखाई ।

परन्तु जब ‘माया बस परिध्रिञ्ज जड जीव’ के लिए, ‘माया-बस’ होने के कारण ही, नामरूपात्मक आधारों को छोड़ना दुष्कर है, और जब कि सगुण और निर्गुण में भेद भी नहीं है, तो सगुण भक्ति ही श्रेष्ठ मानो जाने योग्य है ।

परन्तु यह भक्ति अनन्य भक्ति होनी चाहिए, जैसी कि तुलसीदास जी की थी—

एक भरोसो एक बल, एक भास बिस्वास ।

एक राम बनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

उस भक्ति में परम दीनता होगी। एक स्वामी को छोड़कर दूसरे का निहोरा उसमें नहीं होगा। चातक आदर्श है—

तीनि लोक तिहुँ काल जस, चातक ही के माथ ।

तुलसी जासु न दीनता, मुनी दूसरे नाथ ॥

तुलसीदास जी की भक्ति भावना की गहनता को समझने के लिए और भी दो एक बातों पर दृष्टि डाली जा सकती है। राम उन के प्रभु हैं; इसलिए उनकी भक्ति या उपासना 'सेवक-सेव्य' भाव की है। 'सेवक-सेव्य' भाव की भक्ति के बिना भवसागर से छुटकारा नहीं मिल सकता। रामभक्ति-बिहीन मनुष्य ज्ञानवान् होता हुआ भी पशु के समान है। संसार के जितने भी पूजनीय अथवा प्रिय संबंध हैं वे सब राम के ही नाते से हैं। वे कहते हैं—

(क) सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय खगेश ।

(ख) रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निरबान ।

ज्ञानवन्त अपि सोपि नर, पसु बिनु पूछ विषान ॥

(ग) भगति-हीन गुन मुख सब ऐसे, लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे ।

(घ) हुनि सीतापति सील मुभाउ ।

मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहर खाउ ।

(ङ) पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते ॥

पाँचवे-उदाहरण की पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि, लौकिक संबंधों की तो कौन कहे, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिक छोटे बड़े

सब देवता भी तुलसीदास जी को इसीलिए माननीय हैं कि वे या तो स्वयं राम-रत है, या राम से तुलसीदास जी की सिफारिश करने में समर्थ हैं, अथवा फिर तुलसीदास जी को राम-भक्ति प्रदान कर सकते हैं। विनय-पत्रिका के प्रारंभिक पद इसी बात के प्रमाण है।

रामचन्द्रजी के बाद तुलसीदास जी को यदि और किसी का सबसे अधिक सहारा है तो हनुमान जी का। वह शायद इसलिए कि हनुमान् जी रामचन्द्र जी के स्वयं परमभक्त, विश्वासपात्र और कृपा-भाजन हैं; और शायद इसलिए भी कि, जैसा कहा जाता है, तुलसीदास जी को रामजी के दर्शन भी इन्हीं के द्वारा हुए थे। रामचरितमानस के सुन्दरकांड के नायक एक प्रकार से हनुमान जी ही कहे जा सकते हैं। कवितावली का भी एक कांड उन्हीं की वीरकीर्ति से भरा हुआ है तथा विनयपत्रिका के अपेक्षाकृत अधिकांश प्रारंभिक पद्यों में हनुमान् जी का ही स्तोत्र है।

सीताजी तो जगदंबा और महामाया हैं ही, परन्तु लक्ष्मण जी भी विशेषतः स्तुत्य हैं—इसलिए नहीं कि वे शंभुनाग के अवतार हैं, बल्कि कदाचित् इसलिए कि वे भी राम के कृपाभाजन हैं—रामचन्द्र जी का उनके ऊपर वात्सल्य-स्नेह है—और उन्हें रामचन्द्र जी का साहचर्य प्राप्त है। विनयपत्रिका में वही तुलसीदास जी की प्रार्थना को रामचन्द्रजी के सामने पेश करते हैं, जिस पर रामचन्द्र जी की सारी सभा भी दाद देने लगती है, और रामचन्द्र जी प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं—

मरुत मन रुचि भरत की लखि लखन कही है ।

कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति किंकर की निबही है ॥

सकल सभा मुनि लै उठी जानी रीति रही है ।

कृपा गरीबनेवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥

बिहँसि राम कह्यो सत्य है, मुधि मैं हूँ लही है ।

मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सहो है ॥

रामचरितमानस के कितने ही पात्र रामचन्द्र जी के भक्त हैं । ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त प्राकृत (लोकव्यवहार-लीन) पात्रों में लक्ष्मण, भरत, सुमित्रा, निषाद, शवरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण की गणना की जा सकती है । इन में भरत और लक्ष्मण की पात्रता तो स्वयंसिद्ध ही है । परन्तु निषाद, शवरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण केवल इसलिए सम्माननीय हैं कि, अपनी जाति अथवा चरित्र की कुछ न कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, वे किसी न किसी अंश में भगवान् के सेवक या भक्त सिद्ध होते हैं । इन सब में जिस जिसने भगवान् की जितनी या जैसी सेवा की है उसी के अनुसार उसका उल्लेख भी हुआ है ।

सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति के साथ विनय और दीनता का स्वाभाविक योग है । अपने प्रभु के साथ तो तुलसीदास के ये दोनों गुण अपनी चरमता को ही पहुँचे हुए हैं, फलतः उनमें भावुकता भी परा कोटि की है । सारी विनयपत्रिका ही इसका उदाहरण है । यहाँ केवल दो चार पद्य ही दिग्दर्शनमात्र के लिए उद्धृत किए जाते हैं—

(क) कबहुँक अंब अवसर पाइ ।

मेरिऔ सुधि याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥
 दीन सब अँगहीन छीन मलीन भघी भघाइ ।
 नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥
 वृश्चिहँ 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ ।
 सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
 जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ ।
 तरे तुलसी भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥

(ख) तू दयालु, दान हौं, तू दानि, हौं भिखारी ।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ॥
 नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो सो ।
 मो समान आरत नहि, आरतिहर तो सो ॥
 ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चरो ।
 तात मात सखा गुरु तू, सब बिधि हितु मेरो ॥
 तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै ।
 ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै ॥

(ग) बलि जाउँ और कासों कहों ?

सदगुन-सिन्धु स्वामि सेवक-हितु कहूँ न कृपानिधि सो लहौं ।
 जहँ जहँ लोभ लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं ।
 तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतल कोटर गहौं ॥
 काल सुभाव करम विचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं ।
 मोको तो सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं ॥

उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ किंकर न हौं ।

अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल, साँसति सहौं ॥

महाराज राजीवविलोचन, मगन-पाप-संताप हौं ।

तुलसी प्रभु जब तब जेहि तेहि विधि राम निबाहे निबहौं ॥

(घ) कहें बिनु रछो न परत, कहें राम ! रस न रहत ।

तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो काल की करम की कुसँसति सहत ॥

करत विचार सार पैयत न कहूँ कछु, सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत ।

नाथ की महिमा सुनि समुझि आपनी ओर हेरी हारी कैहरि हृदय दहत ॥

सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत ।

मेरी तो थौरी ही है सुधरेगी बिगरियो बलि, राम रावरी साँ रही रावरो चहत ॥

(ङ) प्रन करिहौं हठि आजु तैं राम द्वार पर्यो हौं ।

‘तू मेरो’ यह बिनु कहे उठिहौं न जनम-भरि, प्रभु की साँ करि निबर्यो हौं ॥

दै दै धका जमभट थके, टारे न टर्यो हौं ।

उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग नरक निदरि निकर्यो हौं ॥

हौ मचलो लै छाँडिहौ जेहि लागि अर्यो हौं ।

तुम दयालु बनिहै दिये, बलि, बिलंब न कीजिये जात ग्लानि गर्यो हौं ॥

प्रगट कहत जो सकुचिये अपराध-भर्यो हौं ।

तौ मन में अपनाइये तुलसिहिं कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्यो हौं ॥

(च) पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन दीन की ।

निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ, दास-आस पूजिहै खास खोन की ॥

राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की ।

सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति बिहीन की ॥

समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की ।

प्रीति-रीति समुझाइब नतपाल, कृपालुहि परिमिति पराधोन की ॥

तुलसीदासजी जैसे महात्माओं में विनय चरित्र का अंग बन कर स्वाभाविक शील का रूप धारण कर लेती है। प्रभु के साथ उस विनय में दीनता मिली रहती है, परन्तु अन्यत्र वह व्यापक सौजन्यमात्र का चिह्न है। रामायण के आरंभ में जब वह खलों की व्यग्र-वन्दना करते हैं तो 'सद्भाव' से। 'बहुरि बन्दि खलगण सति भाए, जे बिनु काज दाहिने बाँए ?' कहीं कहीं पर वे ज़रा कठोर शब्दों का प्रयोग भी करते दीख पड़ते हैं, जैसे—

हम लखि, लखहि इमार, लखि हम हमार के बीच ।

तुलसा अखखहि का लखे, राम-नाम जपु नीच ॥

पर यहाँ पर 'नीच' शब्द औद्धत्य और धृष्टता के उद्देश्य का उतना व्यञ्जक नहीं है जितना कि सासारिक ढकोंमलेंबाजी और मिथ्या विश्वासों पर होने रहने वाले उनके लोभ का।

तुलसीदासजी के समय में तरह तरह के मतमतान्तर और धर्मसंप्रदाय बहुत से थे और एक दृमर का खंडन करने तथा आपस में लड़ने-झगड़ने का उनका रात-दिन का पेशा मा हो रहा था। इसी तरह वर्णाश्रम धर्म भी विशृंग्वल हो रहा था और राजा तथा प्रजा की भी व्यवस्था खराब थी। अपने समय की अवस्था का उन्होंने वर्णन किया है—

प्रभु के वचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेवमयी है ।

तिन्हकी मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि रुई है ॥

राज समाज कुसाज, कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है ।
 नीति-प्रताति-प्रीति-परिमिति-पति हेनुवाद हठि हेरि हई है ॥
 आश्रम-वरन-धरम-विरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है ।
 प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥
 सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बर्दा कुरीति कपट कलई है ।
 सीदति साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥
 पुनः उत्तरकांड में कलिकाल का वर्णन . जो वस्तुतः उन्हीं के
 समय का वर्णन है, इस प्रकार दिया है—

वरन-धरम नहि आन्त्रम चारी, स्रुति-विरोध-रत सब नर नारी ।
 द्विज स्रुतिबचक भूप प्रजामन, कोउ नहि मान निगम-अनुसासन ।
 मारग सोइ जाकहँ जो भावा, पंडित सोइ जो गाल बजावा ।
 मिथ्यारंभ दंभरत जोई, ताकहँ संत कहैं सब कोई ।
 सो सयान जो परधनहारी, जो करु दंभ सो बड़ आचारी ।
 निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी, कलिजुग सोइ ज्ञानी वैरागी ।

असुभ वेप-भूषन धरें, भक्ष्याभक्ष्य जे खाहि ।

ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहि ॥

बाद सूद्र कर द्विजन्ह सन, हम तुमतेँ बछु घाटि ।

जानै ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहि डाटि ॥

जे बरनाभम तेलि कुक्षारा, स्वपच किरात कोल कलबारा ।
 नारि मुई गृह संपति नासी, मूँड मुँडाइ भये सन्यासी ।
 ते बिप्रन सन पाँव पुजावहि, उभय लोक निज हाथ नसावहि ।
 विप्र निरञ्छर लोलुप कामी, निराचार सठ बृषली-स्वामी ।

नरपीडित रोग न भोग करीं, अभिमान विरोध अकारन ही ।

लघु जीवन संवत पंच दसा, कल्पान्त न नास गुमान असा ।

कलिकाल बिहाल किए मनुजा, नहि मानत कोउ अनुजा तनुजा ।

नहि तोष विचार न सीतलता, सब जाति कुजाति भये मँगता ।

ऐसी परिस्थितियों में, जब कि समाज में सर्वत्र विशृंखलता फैली हुई थी, समाज की जर्जरित अवस्था को देखकर तुलसीदास जैसे लोकहित-चिन्तक महात्मा को यदि खेद हुआ हो तो क्या आश्चर्य है ! ढकोसलों से भरी इस अवस्था की आलोचना करते समय कभी कभी उनकी वाणी में कुछ क्षोभ का दृष्टिगत हो जाना स्वाभाविक ही है । ऐसी मनोवृत्ति में यदि कहीं कोई कठोर शब्द निकल गया तो निकल गया, अन्यथा उन्होंने अधिकतर व्यंग्य से ही काम लिया है ।

पर अधिकतर उनका काम संयोजक का है । उन्होंने संप्रदायों के विरोधों को दूर करने के लिए राम-नाम के एक सूत्र से सब को मिलाने की कोशिश की है । वैष्णवों और शैवों के विरोध को शान्त करने के ध्येय से वे अपने राम जी से कहलाते हैं—“शिव-ब्रह्मी मम दास कहावै, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै ।” इसीलिए हम देखते हैं, कि एकमात्र राम को ही अपना सर्वस्व मानते हुए भी, उन्होंने किसी दूसरे देवता का निरस्कार नहीं किया और सबको रामभक्ति की प्राप्ति में सहायक मान कर उनकी भी वन्दना की । राजा और प्रजा की आदर्श स्थिति की कल्पना में वे एक ऐसे ‘राम-राज्य’ की अवतारणा करते हैं जिसमें—

बैर न करहिं काहु सन कोई, राम-प्रताप विषमता खोई ।
 वरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग ।
 चलहि सदा पावहिं सुखहि, नहि भव सोक न रोग ॥
 सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं सुधरम निरत-स्रुति रीती ।
 अल्पमृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज सरीरा ।
 नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहि कोउ भवुष न लच्छनहीना ।
 सब निर्दम धर्मरत धरनी, नर भरु नारि चतुर सुभकरनी ।
 सब गुनज्ञ सब पंडित जानी, सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ।
 सब उदार सब पर उपकारी, द्विज सेवक सब नर भरु नारी ।
 एक-नारि-व्रत-रत सब झारी, ते मन-बच-क्रम पति-हितकारी ।

दंड जतिन कर भेद महँ, नतंक नृत्य-समाज ।

जितहु मर्नाइ अस सुनिय जहँ, रामचन्द्र के राज ॥

इतना ही नहीं, रामचन्द्र के राज्य में पशु-पक्षी तक निर्भय थे
 और प्रेम में रहते थे । राजा का कर्तव्य है पुरजन-बटोही आदि के
 लिए सड़कों पर फलों के वृक्ष लगवाना, जगह जगह बाग-बगीचे
 लगवाना, जिससे उन्हें विश्रान्ति मिले और भूख लगने पर
 स्वाभाविक आहार भी मिल सके । राजा को चाहिए कि बस्त्रियों की
 सफाई अच्छी रखे, जिससे निर्मल और शुद्ध वायु का प्रवाह हो,
 कृषि को उन्नतिशाली बनाए, गौओं की समृद्धि करे जिससे घी-दूध
 की कमी न हो और प्रजा पुष्ट हो, तथा जल की स्वच्छता आदि का
 प्रबंध करे, आजकल की भाँति नदियों को गंदगी बहाने (drainage)
 का साधन न बनाए । रामराज्य इन बातों के लिए भी आदर्श है—

फूलहि फलहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पंचानन ।
 सीतल सुरभि पवन बह मंदा, गुंजन अलि लै चलि मकरंदा ।
 लता विटप माँगि फल द्रवही, मनभावते धेनु पय स्रवही ।
 मसि संपन्न सदा रह धरनी..... ।
 सरिता सकल बहैं बर बारी, सीतल भमल स्वादु मुखकारी ।

लोकहित-निन्तना के उनके इस उद्देश्य में उनके स्तोत्र का यत्र-नत्र थोड़ा-बहुत प्रकाश उनका स्वभाव-दाप कदापि नहीं कहा जा सकता । वह केवल उनकी लगन और निष्कपटता की ही एक छाया है । और यदि उनकी सामाजिक आलोचनाओं में किसी को फटकार दिवाई देनी ही हो, तो भी क्या हुआ ? आजकल के स्वार्थप्रेरित किनारे ही कपट-मुनि, जो 'सुधारक', 'धर्मोपदेशक' या 'देशभक्त' होने के साटिफिकेटों से अपने को चालू करते हैं, जब प्लेटफार्म पर खड़े होकर बहुत सी खरी-ग्याटी हमको मुना देते हैं, और हम लोग आसानी से सुन लेते हैं, तो इस निष्पृह, गरीब, सच्चे लोक-मेवी महामुनि के ही एकध शब्द का कोई बुरा क्यों माने ?

गोस्वामी जी ने जो कुछ भी कहा है वह 'स्वान्तः सुखाय' कहा है, परन्तु 'स्वान्तः सुखाय' होने पर भी उनकी वाणी व्यापक उद्देश्य से भरी हुई है, यह हम देख चुके हैं । 'स्वान्तः सुखाय' होने के कारण ही उनकी रचना में सचाई है । सचाई और निष्कपटता व्यक्ति को व्यक्तित्व देती हैं, वे किसी भी उद्देश्य और कर्म को महान् बना सकती हैं । अतः यदि एक ओर हम आसानी से उनसे

बड़ा दूसरा समाजोपकारक और जन-हितैषी नहीं ढूँढ़ पाते तो दूसरी ओर, वागी की दृष्टि में, उनमें बड़ा दूसरा कहने वाला भी हमको नहीं मिलता। वेशक, वे हमारी हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं और संसार की भाषाओं के सबसे बड़े कवियों में से एक हैं।

कविता की पहली और सबसे बड़ी कसौटी रमात्मकता अथवा परिभाषा-मुक्त भाषा में, भावुकता है। किसी वस्तु की भावुकता का अभिप्राय है उस वस्तु का हृदयस्पर्शशीली होना। सचाई और निष्कपटता भावुकता के सबसे बड़े आधार हैं। तुलसीदास जी की विचारधारा के मोटे-मोटे तत्वों का साधारण परिचय पाकर हम यह देख चुके हैं कि उनके कहने के ढंग में, कोरा कथनमात्र ही न हो कर, बहुत कुछ प्रभाव भी है। विनयपत्रिका के उद्धरण उनके दैन्य भाव की हृदयस्पर्शिता के द्योतक हैं। दैन्यभाव की भावुकता का उत्कर्ष विनयपत्रिका में ही सबसे अधिक हुआ है। उसका नाम ही विनयपत्रिका है। दो एक उदाहरण इस कथन को और अधिक स्पष्ट कर देंगे, यथा-

(क) कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ सीस मेरे।

जेहि कर अभय किए जन भारत, बारक बिबस नाम ठेरे ॥

(ख) दान को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।

जासों दीनता कहाँ हौ देखौ दान सोऊ ॥

× × × × ×

तोहि माँगि माँगिनो न माँगिनो कहायो।

सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो ॥

× × × × ×

तू गरीब को नेवाज, हो गरीब तेरो ।
 बागक कहिये कृपालु तुलसीदास मेरो ॥
 (ग) खोजिये लायक कर्तब कोटि कोटि कटु ।
 राक्षिये लायक तुलसी का निलज्जई ॥
 (घ) ऐसी तोहि न वृक्षिये हनुमान हठाले ।
 साहब कहै न गम से तो से न बसीले ॥
 तेरे देखत निह के सिमु मंडल लाले ।
 जानत हौं कलि तेरेउ मनु गुन-गन कीले ॥
 हौं सुनत दमकंव के भये बंधन ढाले ।
 सो बल गयो, किधो भये अब गर्व-गहाले ॥
 सेवक का परदा फटे तुम समय सीले ।
 अधिक आपु त आपुनौ मुनि मान सहाले ॥
 साँसनि तुलसीदाम की मुनिमुजस तुदा ले ।
 तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रंगाले ॥

जहाँ प्रभु की महिमा, उनकी भक्तवत्सलता अथवा उनके समक्ष किसी आर्त की आर्तता का प्रसंग आ जाता है वहाँ तो तुलसीदाम जी की भावुकता बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। बालि के शब्द 'प्रभु अजहूँ मै पानकी, अन्तकाल गनि तारि' हृदय में कितने गहरे घुसनेवाले हैं। इसी प्रकार वनगमन के समय जब रामचन्द्र जी भरत जी को घर रहने की आज्ञा देते हैं तो भरत का उत्तर कितना मर्मस्पर्शी हो जाता है—

अबसि हँ आसु पाइ रहोंगो ।

जनमि कैकर्या-कोमि कृपानिधि, क्यों कछु चपरि कहोंगो ॥

‘भरत, भूप, सिय राम लखन बन,’ सुनि आनन्द सहोंगो ।

पुर परिजन अवलोकि मानु सब मुख सन्तोष लहोंगो ॥

प्रभु जानत जेहि भौंति अवधि ली बचन पालि निबहोंगो ।

आगे की बिनती ‘तुलसी’ तब जब फिरि चरन गहोंगो ॥

—(गीतावली)

हृदय की वेदना बताई नहीं जानी है, वह केवल थोड़ी-बहुत दिखाई जा सकती है। भरत जी की स्वीकृति ने वेदना को इतना दिखाया है कि वह नगी हो उठी है। उनका उच्चरित एक एक अक्षर जैसे एक एक लंबी अश्रु-धारा बन गया है।

राम क चलै जाने पर कौशल्या कहती है-

माई री मोहि कोउ न समुझावै

राम-गवन सौँचो कियौ सपनों, मन परतीति न आवै ।

लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता ॥

सरलता, अबोधता, मे भावुकता गुहाराज के उत्तर में देखी जा सकती है -

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै कटि लौ जल थाइ देखाइहौ जू ।

परसे पगधरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौ जू ॥

तुलसी अवलंब न और कछु, लरिका केहि भौंति जिआइहौ जू !

बरु मारिए मोहिं, बिना पग धोए हौ नाथ न नाव चढ़ाइहौ जू ॥

रावरे दोष न पायन को, पगधरि को भूरि प्रभाउ महा है ।

पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है ॥

पावन पायँ पग्वारि के नाव नदाइहाँ, आयसु होत कहा है ।

तुलसी मुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥

विभावानुभाव आदि से पूर्ण-पुष्ट रसात्मकता के आस्वादन के लिए पूरा रामचरितमानस पढ़ना चाहिए। रामचरितमानस एक प्रबंध काव्य है, और महाकाव्य है। एकाग्र दृष्टि से यह खंडशः अनेक खंडकाव्यों का समुदाय भी कहा जा सकता है। प्रबंध काव्य में प्रसंग आदि के सहारे विभावों, अनुभावों और संचारियों की अच्छी योजना बन पड़ती है। महाकाव्य के नाते इस ग्रंथ में सर्वांगीण जीवन का चित्र है जिसकी मूढ़म से मूढ़म अवस्थाएँ तक कवि की ऐसी दृष्टि से नहीं बच पाई हैं। 'ऐसी दृष्टि' का अभिप्राय जीवन के मूढ़म पर्यवेक्षण से है, जिसमें मनोविज्ञान के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। मनोविज्ञान चरित्र-चित्रण का सहायक है। भावुकता, परिस्थिति और चरित्र के सम्यक् सामंजस्य से पैदा होती है। रामचरितमानस में इस तरह का प्रसंग का प्रसंग भरे पड़े हैं, जिनमें परिस्थिति और चरित्र मिल कर पाठक के हृदय को खूब अच्छी तरह, जगाते ही नहीं, सचेष्ट करते हैं। करुण की दृष्टि से राम-वन-गमन, राम भरत-मिलाप, सीताहरण और लक्ष्मण के शक्ति लगना बड़े ऊँचे स्थल हैं। रौद्र, वीर और भयानक लंकाकांड में खूब देखने को मिलेंगे। सुन्दरकांड में अद्भुत है, यद्यपि अद्भुत लंकाकांड में भी अच्छी दृष्टि-गोचर होता है। नारद-मोह और और लक्ष्मण-परशुराम संवाद में हास्य के दर्शन होते हैं। भरत की तपश्चर्या में (राम के स्थान में राज्य करने के लिए मजबूर होना

उनके लिए तपस्या ही थी) — ज्ञान के लक्षण मिलते हैं। हाँ, संभोग शृंगार अपने पूर्ण रूप में नहीं मिल सकेंगे, क्योंकि तुलसी-दास राम के सेवक थे और पूर्ण मर्यादावादी थे। शृंगार के आलंघन और मंचारियों की कुछ मनोहर झलक विवाह से पूर्व बाग में, राम और सीता के मिलन में दिखाई देती हैं। ये केवल कुछ मोटे-मोटे उदाहरण हैं, अन्यथा रामचरितमानस में तो पद पद पर भावुकता और रमान्मकता भरी पड़ी है। तुलसीदास जी की सहृदयता के कारण सर्वत्र ही उनको ऐसी परिस्थितियाँ मिल जाती हैं, जहाँ उनके ढाले हुए चरित्र अपनी विशेषताओं के कारण उन परिस्थितियों में जान डाल देते हैं। राम और वाल्मीकि की भेट में कोई असाधारणता नहीं है, राम उनसे रहने को स्थान माँगते हैं और वे राम को स्थान देते हैं, परन्तु देने से पहले यह कहें बिना उनसे नहीं रहा जाता कि—

पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछन सकुचाउँ ।

जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुमहि दिखावौ ठाउँ ॥

इस प्रकार की भावुकता चरित्र की विशेषता से उत्पन्न होती है। चरित्र की विशेषता का निर्णय करना और उसे बराबर समझते रह कर उसका सफल निर्वाह करना तुलसीदासजी खूब जानते हैं ॥ राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान जैसे चरित्र तो आदर्श चरित्र हैं और अपने आचरण में सुनिश्चित हैं। परन्तु विशेष कठिनाता होती है उन चरित्रों के आचरण-निर्वाह में जो प्रवृत्ति-परवशता में कुपथगामी बने होते हैं अथवा जो कदर्य होते हुए भी ऊँची

आकांक्षाओं से मुक्त नहीं होते। बालि और सुग्रीव के चरित्रों में किन्हीं अंशों में हम ये बाने पाते हैं। जो बालि, पापी व्यभिचारी, अत्याचारी अहंकारी, और साथ ही अतुल बलशाली है और जो, अपनी पत्नी के यह समझने पर भी कि सुग्रीव के सहायक रामचन्द्र हैं, सुग्रीव को तृण के समान समझना हुआ उससे लड़ने जाना है वही मरते समय इतना विनम्र हो जाता है कि “सुनहु राम स्वामी सुभग” आदि कहना हुआ जीवनदान से अधिक श्रेष्ठ उस मृत्यु को समझना है। परन्तु तुलसीदासजी ने चरित्र को विषमता न आने देने के लिए उसके मुख में पहले ही कहला दिया है—

“.....सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ ।

जो कदापि मोहि मारिहैं, तो पुनि होहुँ सनाथ ॥

उसे आशा नहीं कि रघुनाथ जी उसे मारेगा। यह उसका कुतर्क है, परन्तु फिर भी वह अपने दूषणों को नहीं देख पाता, और ऐसा समझना भी उसके चरित्र का ही एक अंग है। उसके ऐसा कहने से यह भी व्यंग्यध्वनि निकलती है कि यदि रामचन्द्रजी ने उसे मार दिया तो शायद वे समदर्शी नहीं रहेंगे। मरणाशील होने पर भी उस का यह भाव रहता है और वह प्रभुसे इस संबंध में तर्क करता है—

मैं बैरी सुग्रीव पियारा । कारण कवन नाथ मोहि मारा ।

परन्तु यह सब होने पर भी भगवान के हाथ से मारे जाने में उसका कल्याण है, ऐसी उसकी धारणा है और वह मर कर जीना नहीं चाहता। यही उसका चरित्र है, लेकिन यदि उपर्युक्त दोहे में

से तीसरा और चौथा चरण निकाल दिया जाय तो बालि का सारा चरित्र एक भोंडा सा मखौल रह जाएगा !

दीर्घकालिक चरित्रों अथवा परिस्थितियों के अनिश्चित जगिक अवस्थाओं में भी तुलसीदास जी की सूक्ष्म दृष्टि नहीं चूकती । रामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीता के सहित वन को जाते हुए किसी गाँव को पार कर रहे हैं । ग्राम-वधुएँ उन्हें देखने के लिए खड़ी हो जाती हैं । उसका वर्णन है-

सोम जटा उर बाहु बिसाल, विलोचन लाल तिरिछा सा भौहें ।

नून सरामन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुटि सोहैं ॥

सादर बागहि बार सुभाय, चितै तुम ल्यो हमरो मन मोहैं ।

पूछता ग्राम-वधु सिय सो कहो, माँत्रे से मखि, रावरे को है ?

सुनि सुंदर बैन सुधारम साने, सयानी हैं जानका जानी भली ।

तिरछे करि नेन दे सैन तिन्है, समुझाइ कछ मुसकाइ चली ।

तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकनि लोचन-लाहु अली ।

अनुराग-तड़ाग मे भानु उदै, बिकसी मनो मंजुल कंजकली ॥

जितनी कुशलता तुलसीदासजी में मानसिक व्यापारों को परखने और चित्रित करने की है उतनी ही बाह्य दृश्यों को चित्रित करने की भी है । दृश्य-चित्रण के कई अच्छे उदाहरण कवितावली में है । हनुमानजी ने लंका में आग लगादी है । उस समय—

‘लागि लागि भागि’, भागि भागि चले जहाँ तहाँ ।

धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं ।

छुटे बार. बसन उघारे, धूमधुं-अंध,

कहैं बारे बृढ़े 'बारि बारि' बार बार ही ॥

हय हिहिनात भागे जात, घररात गज,

भारि भोर हेलि पेलि रेंदि खोदि डारहीं ।

नाम लें चिलात, बिललात अकुलात अति,

“तात तात, तौसियत, शोसियत, क्षारहीं ॥

उपलक्षणा द्वारा चित्रणा का उम्मी स्थल से यह उदाहरण दिया जा सकता है—

बालर्धा बिमाल बिकराल ज्वाल-जाल मानो,

लक लालिबे का काल रसना पमारी है ।

कंधों व्योम वाथिका भरे हैं भूरि ध्रुमकेतु,

वाररम बार तरबारि सी उवारी है ॥

तुलसी सुरेस-चाप, कंधों दामिनी-कलाप,

कंधों चली मेरु ते कृसानु सरि भागो है ।

देखे जानुधान जानुधानी अकुलानी वहे,

'कानन उजारयो, अब नगर पजारो है' ॥

रामायण के अरण्य-कांड में तालाब का वर्णन इस प्रकार है—

बिकसे सरसिज नाना रंगा, मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ।

बोलत जलकुक्कुट कलहंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ।

चक्रवाक वक खग समुदाई, देखत बनै बरनि नहि जाई ।

सुन्दर खगगन गिरा सोहाई, जात पथिक जनु लेत बुलाई ।

ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये, चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये ।

चंपक बकुल कटंब तमाला, पाटल पनस पलास रसाला ।
 नयपल्लव कुसुमिन तरु नाना, चचरीक पटली कर गाना ।
 सातल मंद सुगंध मुभाऊ, संतत बहै मनोहर बाऊ ।
 कुहू-कुहू कोकिल ध्वनि करहीं, मुनि रव सरम ध्यान मुनि टरहीं ।

फल-भर नम्र बिटप सब, रहे भूमि नियराइ ।

पर-उपकारी पुरुष जिमि, नमई मुसंपति पाइ ॥

गीतावली में चित्रकूट पर रामचन्द्रजी के निवाम का वर्णन है -

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,

ललित लता-जाल हरति छबि बितान की ।

मन्दाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहग भार,

धार मुनि-गिरा गभार सामगान की ।

मधुकर पिक बरहि मुखर, मुन्दर गिरि निक्षर झर,

जल-कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की ।

सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, सन्तत बहै त्रिविध बाढ,

जनु बिहार बाटिका नृप पचवान की ।

बिरचित तहँ पर्नसाल.... . ।

छबि-वर्गान के उदाहरण में निम्न पंक्ति-पौ पेश की जा सकती है—

मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा, सोहत करकमलन धनुतीरा ।

जटा-मुकुट सीसन्हि सुभग, उर भुज नैन बिसाल ।

सरद-पर्व-विधु-वदन वर, लसत स्वेद कन जाल ॥

अथवा गीतावली से—

तन मृदु मंजुल मेचकनाई । झलकति बाल-विभूषन झाँई ॥

अधर पानि पद लोडित लोने । सर-मिगार भव सारस-सोने ॥

किलकत निरखि बिलोल खिलौना । मनहुँ विनोद लरत छबि छौना ॥

काव्य के अधिकांश गुणों का पुर्र्णोत्कर्ष तो, वस्तुतः, प्रसंगक्रम में विकसित होने के कारण प्रबंध-काव्य में ही अच्छा प्राप्त होता है । अब तक जितनी बातों के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनके, और उनसे बहुत अधिक के, अगगित उदाहरण, यदि कोई चाहे तो, अकेले रामचरितमानस में से निकालकर इकट्ठे कर सकता है । तुलसीदास जी ने अपनी समस्त कविता (कृष्णगीतावली जैसी कुछ छोटी रचनाओं को छोड़कर) रामचन्द्र जी के विषय में की है और दूसरे ग्रंथों में किए गए उनके बहुत से वर्णन रामचरितमानस के वर्णनों की पुनरावृत्तिमात्र हैं । इसलिए रामचरितमानस में वे प्रसंगादिक से विकसित होकर अपने शृंग्वलावद्ध रूप में मिलते हैं, जो बान कि कवितावली आदि संग्रह-ग्रंथों में स्वाभाविकतया नहीं हो सकती । और फिर, तुलसीदासजी का प्रबंध-रचना-कौशल भी असाधारण था ।

प्रबंध-रचना के कौशल में यह बांछनीय है कि कथा का सिल-सिला चलता रहे, कहीं टूटे नहीं; उसमें शिथिलता न आने पावे, उत्तरगामी प्रसंगों का पूर्ववर्ती प्रसंगों से स्वाभाविक निस्सार होता हो, तथा उसका प्रसार क्रमशः सारस्थलों की ओर होता चले । इसका अर्थ यही होगा कि अनावश्यक अथवा असमर्थ किसी प्रकार के भी प्रसंग प्रबंध के घटना-विन्यास में स्थान नहीं पा सकेंगे ।

इसी तरह से नीरम स्थलों का भी निराकरण किया जाएगा। रामचरितमानस का प्रबंध बड़ा जटिल है। रामचरित की कथा पहले तो काकभुपुंडि ने गरुड से कही, वही कथा शिवजी ने पार्वती से दुहराई और बाद में शिव-पार्वती की वानचीत को याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कहा। तुलसीदास जी याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद का वर्णन कर रहे हैं। अर्थात् वामनव में सारी रामायणा अपने मूल में काकभुपुंडि द्वारा किया हुआ एक वस्तुवर्णन है और तुलसीदास जी उनकी वानचीत के तीसरे रिपोटर या संवाददाता हैं, वानचीत के मिलमिले में बहुत से अनावश्यक प्रसंग और फालतू बातें आ ही जाती हैं और प्रबंध-काव्य के पढ़ने वालों के लिए वे अरुचिकर भी हो सकती हैं। रामचरितमानस-रूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद में ऐसे स्थलों की कमी नहीं है। प्रथम तो इसमें बहुत सी प्रासंगिक उपकथाएँ आ गई हैं जिन्हें कहीं कहीं काफी विस्तार दे दिया गया है, फिर कहीं-कहीं अप्रासंगिक कथाएँ भी हैं जो, यदि यह कथा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद के रूप में न होती तो, आ ही नहीं सकती थी, जैसे मनीमोह, काम-दहन आदि। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं वर्णन भी इतने 'तूल-तबील' बन गए हैं कि वे कथा-प्रसार में रुकावट डालने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु तुलसीदास जी का यही सबसे बड़ा रचना-पाटव है, कि ऐसे स्थलों को उन्होंने कहीं अरुचिकर नहीं होने दिया है। इसके विपरीत, हम तो देखते हैं कि अपने लोक-मर्यादा आदि के उद्देश्य से अप्रासंगिक कथाओं का समावेश भी उनको अभिप्रेत

था, और उद्देश्यसिद्धि के हेतु अप्रासंगिक को प्रासंगिक बनाने के लिए ही उन्होंने कई कई महानुभावों के वार्ताहर का जामा पहना है। फिर, वे एक महदय और भावुक वार्ताहर थे जो 'राम' का 'र' सुनते ही अपने को भावों में गवा बैठे। इसीलिए जहाँ अनिल लंघे वर्णन हैं, जिनमें बहुत-से दूसरे कवि अपनी कारीगरी का फजीता करा बैठते, उन्होंने अपने अतुल कल्पना-वैभव और भाव-सारस्य से सजीवता भर दी है। उन्होंने उनको बोलते हुए चित्र बना दिया है। छोटे से उदाहरण के तौर पर हम किष्किन्धाकांड के वर्षागमन के दृश्य को देव्य सकते हैं। रामचन्द्र कह रहे हैं—

घन घमंड नभ गरजन घोरा, प्रिया-हीन डरपत मन मोरा ।

दामिनि दमक रही घन मानी, खल की प्रांति जथा थिर नाही ।

बरखाई जलद भूमि नियराए, जथा नवहि बुध विद्या पाए ।

बुंद अघात सहई गिरि कैमे, खल के वचन संत सहैं जैसे ।

क्षुद्र नदी भरि चली ताराई, जस थारेहु धन खल बौराई ।

भूमि परत भा ढाबर पानी, जिमि जावहि माया लपटानी ।

सिमिटि सिमिटि जल भरहि तलावा, जिमि सदगुन सज्जन पहुँ भावा ।

यहाँ, जहाँ एक ओर वर्षा की वास्तविक प्रतिमा खड़ी कर दी गई है—जिसमें दामिनी का दमकना, बूँदों का पहाड़ों पर आघात करते हुए (टप्-टप् ध्वनि के साथ) गिरना, बादलों का (पहाड़ के मान्निध्य से) पृथ्वी पर लटक आना, छोटी नदियों का भर कर उन्मत्त हो उठना आदि प्रत्यक्ष आँखों के सामने आ उपस्थित होते हैं—वहीं दूसरी ओर एक एक पदार्थ की चेष्टायुक्त संप्राणता

मे ऐसा दीखता है कि प्रत्येक पदार्थ वाणीयुक्त हो एक एक सिद्धान्त हम से कहता जा रहा है। इसका प्रमाण यही है कि आधी आधी चौपाइयों में सिद्धान्त-कथन होते हुए भी दृश्य की प्रत्यक्षता को कोई हानि नहीं पहुँचती। यदि यही दृश्य, बिना महानुभूति और सत्यता के, केशवदास जी की कृत्रिमशैली में उपस्थित किया जाता तो इसके सिद्धान्तवाक्य, निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो उठते। इसी प्रकार जिस समय भगवान् विलाप करते हुए पृष्ठते हैं—‘हे खग मृग हे मधुकर-श्रेणी, कहूँ देखी सीता मृगनैनी’ तो हमको खग, मृग और मधुकर-श्रेणी निर्विन्नभाव से भगवान् के सामने मुँह लटका कर खड़े या बैठे हुए नहीं दीख पड़ते क्या ?

इसके अनिरुक्त रामचरितमानस में अद्भुततत्त्व या ‘रोमांस’ (Romance) की इतनी प्रचुरता है कि वह निरर्थकता या अनि-विम्बनार को भी सार्थक, रुचिकर, कुतूहलवर्धक बना देता है। और इन सब बातों के लिए रामभक्ति जैसे एक बड़े जवरदस्त गौँद का काम करती है। अन्यथा किसी दृग्मर कवि के हाथों में पड़कर नारद-मोह या प्रतापभानु या श्रवणा की उपकथाएँ बिलकुल निरनुरजक बन जाती, या फिर, उसे ऐसे प्रसंगों का परम संज्ञाप के साथ सकेन-मात्र ही करना पड़ता। फिर, गोस्वामी जी की सावधानता तथा नैष्ठिक बुद्धि ऐसी है कि वह कथा-प्रसंग के बीच में स्थान स्थान पर हमको बतलाते चलते हैं कि—शिवजी ने ऐसा कहा, अथवा काकभुपुंडि ने ऐसा कहा। उत्तरकांड में कथा का उपसंहार करते हुए वह उसे फिर काकभुपुंडि और गरुड़ की बातचीत पर ले आते हैं।

काकभुपुंडि गरुड़ को सारी कथा सुना देने के बाद गोया अब उस का अभिप्राय समझा रहे हैं। तुलसीदास जी अलग के अलग हैं।

प्रबन्ध-पटुता का एक दूसरा प्रमाण हमको रामायण के वार्ता-लापों या कथोपकथनों में मिलता है। कथोपकथन किसी भी कथा के आवश्यक अंग होते हैं और कथा को सजीवना, चलनापन प्रदान करने तथा पाठक के कुतूहल को बढ़ाने और उसे अधिक अनुरंजित करने में सहायक होते हैं। इसके लिए कथोपकथनों में चुम्बी, विदग्धता, नाटकीय प्रभाव होने चाहिएँ। तुलसीदास जी के कथोपकथनों में ये गुण हैं। पात्रों और अवसर को देखकर उनके अनुसार ही वार्तालाप कराने में तुलसीदासजी दक्ष हैं। लक्ष्मण-परशुराम संवाद में चापल्य, ममस्वरापन तथा वेचमी की भुँफलाहट है, तो कैंकेयी-मथुरा संवाद में विश्रंभ-प्राप्त कुछ धृष्टता को लिए हुए वागी की विदग्धता दृष्टिगोचर होती है। रावण-अंगद संवाद में अंगद क उत्तरों में जो गौरवशालिना दीख पड़ती हैं, हनुमान-रावण संवाद में उसका स्थान हनुमान जी की ओर में प्रबोधना और चेनावनी ने ले लिया है, क्योंकि दोनों संवादों में परिस्थिति तथा पात्र की विभिन्नता है। अंगद, स्वयं राजपुत्र, भगवान के दूत बनकर गए थे, परन्तु हनुमानजी का उम भौति का नियोग नहीं था और लंका में उनसे जबरदस्ती (?) छेड़-छाड़ की गई थी (अथवा हनुमानजी ने ही रामचन्द्र जी का प्रभाव प्रकट करने के लिए स्वयं ही छेड़-छाड़ की थी ?)। अतः जब अंगद से रावण पूछता है कि तुम कौन हो तो वे केवल उत्तर देते हैं, “मैं रघुबीर-दूत दसकन्धर;” परन्तु

रावण के यह पृच्छने पर कि 'तूने पेड क्यों तोड़े और रत्नों को क्यों मारा' हनुमानजी का उत्तर होता है—

खायेहु फल मोहि लागी भृत्वा, कपि स्वभाव ते तोरेऊँ रुखा ।

जिन्ह मोहि मारा तिन्ह मैं मारा ।

अवश्य ही इस उत्तर में प्रभाव प्रदर्शित करने का उद्देश्य है, परन्तु एक बार हनुमानजी के वचन और कर्म द्वारा रामचन्द्रजी का परिचय प्राप्त हो जाने पर अंगद का केवल इतना ही कहना समीचीन है—'मैं रघुवीर-दूत दसकंवर ।" विशेषगणों से विमुक्त; व्याख्यानों से विहीन, एकमात्र 'रघुवीर' नाम का उल्लेख करना गौरव और महिमा की दृष्टि से व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक व्यंजक और प्रभावोत्पादक है ।

वर्णनरीति की दृष्टि से गोस्वामी जी की भाषा "कहीं तो परम कवितामयी हो जाती है और कहीं बिल्कुल व्यावहारिक और सीधी-सादी । कारण यह कि तुलसीदास जी ऊँचे विद्वान् और कवि भी थे और उन्हें लोक-व्यवहार का भी अच्छा अनुभव था । तहाँ वह प्रभु के गुणों का तथा उनके सौंदर्य का वर्णन करते हैं प्रथवा जहाँ वे प्रकृति की शोभा का दर्शन करते-कराते हैं वहाँ भाषा में कविता स्वाभाविक रूप से फूट पड़ती है और जहाँ उन्होंने हमारे जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओं तथा कार्यों का वर्णन किया है वहाँ भाषा भी व्यावहारिक रूप से सीधी-सादी अथवा चलती पुर्जी हो गई ।" भाषा की व्यावहारिकता का एक रूप उसका मुहावरेदार होना भी है । तुलसीदास जी ने मुहावरों का काफ़ी

प्रयोग किया है, जैसे—‘पसारि पाँव सूति हों’ (पाँव पसार कर सोता हूँ) अथवा ‘लैवे को एक न दैवे को दोऊ’ (लेना एक, न देना दो)। स्वयं भी कितनी ही ऐसी अनुभव-जन्य उक्तियाँ कही हैं जो बाद में कहावन-स्वरूप हो गई, जैसे —‘चेरि छाँडि नहि होउब रानी,’ ‘मूँड मुँडाइ भये सन्यासी,’ आदि।

अवसरानुकूल भाषा को कोमल या ओजपूर्ण बना देना इनके हाथ का खेल था। ‘कंऊण किंकिणि नूपुर-धुनि सुनि’ में सचमुच कंकण आदि का कोमल संगीत ही सुनाई देने लगता है। उधर वीर-रौद्र आदि के प्रसंग में ओज का साक्षान् अवतार हो जाता है। राम द्वारा, शिवयनुष तोड़े जाने पर—

डिगति उर्वि अतिगुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।

ग्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥

दिगयन्द लरखरत, परत दसकंठ मुखभर।....

ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिव धनु दल्यो ॥

रामचरितमानस में तो माधुर्य और प्रसाद जैसे भरा पड़ा है। एक प्रकार से तो जहाँ जहाँ आज का अवसर नहीं है वहाँ सर्वत्र ही प्रसाद का प्रवाह है, माधुर्य तथा प्रसाद का संयोग नीचे के सवैये में कैसा अच्छा है—

कीर के कागर ज्यों नृपचोर विभूषण उत्पम अंगनि पाई।

औध तजी मगवास के रुख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लंग-लुगाई।

संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनो धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।

राजिवलोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥

(कवितावली)

तुलसीदास जी बड़ी मुख्यवस्थित भाषा लिखते थे। अनंक पुराने कवियों की भाँति इनके वाक्य विशृङ्खल या निरन्वय नहीं है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी इनमें दूसरों की अपेक्षा बहुत कम है।

इनको कई भाषाओं पर अधिकार था। संस्कृत के ये विद्वान् थे और इनका पांडित्य गहरा था जिसका अनुमान हमको इनकी रचनाओं के अध्ययन तथा 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्' आदि से हो सकता है। तुलसीदास जी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों ही में कविता की है, और कहीं कहीं ये अरबी-फारसी के शब्दों को काम में लाने में भी नहीं चिक्किचाए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि ये आजकल की बहु-अनुरुद्ध 'हिन्दुस्तानी' भाषा को उस काल में जन्म देना चाहते हैं। सब कुछ होता हुआ भी इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी ही है। इसके अतिरिक्त तुलसीदास जी ने अपने समय तक प्रचलित सब तरह की पद्धतियों में रचना की है। प्रबन्ध काव्य, स्फुट काव्य, गीतिकाव्य, दोहा चौपाई-कवित्त-सवैया आदि, ग्राम-गीत, विवाहादि के समय के गीत—सब कुछ ही—इनकी रचना में हमको देखने को मिलते हैं। अलग-अलग, भाषा भी सब की अनुकूलता प्रहण करती चलती है।

वर्णन-रीति में इनकी अलंकार-पद्धति पर विचार करना रह गया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इनका अलंकार-प्रयोग भाषा और भाव के अनुकूल, दोनों का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए हुआ है। वह स्वाभाविक है, उसमें जबरदस्ती की ठूस-ठाँस या

खींचातानी नहीं है। अवसर पर सभी प्रकार के अलंकार आगए हैं, परन्तु अधिकता रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा की है। उपमा और रूपक का संकर बहुत जगड़ होगया है। लंबे लंबे सांग-रूपक इनके जेमे शायद ही किसी दृमरे कवि ने कहे हों। डम तरह के रूपक कुछ दुरूड होगए हैं, परन्तु किसी आध्यात्मिक तत्व को सांगोपांग समझाने के लिए ही उनका विशेषणः प्रयोग हुआ है। दृमरे सांग-रूपक उनने बडे नहीं है। बालकाड के आरंभ मे संत-समाज के ऊपर यह रूपक कहा गया है—

मुद-मंगल-मय संत-समाज । जो जग जंगम तीरथराज ।
 राम-भगति जहँ मुरमरि-धारा । सरसइ ब्रह्म-विचार-प्रचारा ।
 विधि-निषेध-मय कलिमलहरनी । करमकथा रविनंदिनि बरना ।
 हरिहर-कथा विराजति वेनी । मुनत सकल मुद-मंगलदेनी ।
 बटु बिस्वासु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज मुकर्मा ।
 सर्बाह सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ।
 अकथ अलौकिक तीरथराज । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाज ।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।

लहहिं चारि फल अछत तनु, साधुसमाजु प्रयाग ॥

तुलसीदास जी की रचनाएँ सांसारिक लोगों के लिए कल्पतरु के समान हैं। जो व्यक्ति भक्ति या अध्यात्म की चिन्ता नहीं करता वह भी अपने लोकायतिक जीवन के लिए उनमें तो ऐसे ऐसे अनुभव-सत्य इकट्ठे कर सकता है जिनसे, यदि वह उनको पालन करे तो, अपनी संसार-यात्रा में बहुत कुछ सफल हो सकता है।

अनुभवजन्य व्यापक सत्य को 'मूक्ति' कहा जाता है। गोस्वामी जी की रचनाएँ 'मूक्तियों' का भंडार हैं, क्योंकि वे अनुभव का भंडार हैं। यदि उन सबका मंमंह किया जावे तो एक दूसरी रामायण बन जावे। यहाँ केवल कुछ थोड़े से अनुभव-रूप सत्यों का उल्लेख किया जाना है—

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल ।
 कदली बदली बिटप गति, पम्बेहु पनस रसाल ॥
 फूलइ फलइ न बेत, यदपि सुधा बरसहिं जलद ।
 मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंचि सत ॥
 होइ भले के अनभले, होइ दानि के सूम ।
 होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक तें धूम ॥
 काटे पै कदली फरै, कोटि जतन करि सीच ।
 धिनय न मान खगेस सुनु, डाँटे पै नव नीच ॥
 सारदूल को स्वाँग करि, कूँकर की करतूति ।
 तुलसी तापर चाहिए, कोरति, विजय विभूति ॥
 जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भल ।
 बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत ही ॥
 सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।
 ते नर पामर पापमय, तिन्है बिलोकत हानि ॥
 मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान को एक ।
 पालै पोषै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग सुजोग ।
 होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ॥
 सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै चित मानि ।
 सो पछनाइ अवाइ उर, अवधि होइ हित हानि ॥
 भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ।
 सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ॥
 सचिव वैद गुरु तीनि जो, प्रिय बोलहिं भय आस ।
 राज-धर्म तन तीनि क, होइ बेगर्हा नास ॥
 जेहि को जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ।
 जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना, जहाँ कुमति तहँ बिपति-निधाना ।
 पर-उपदेश-कुसल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।
 कर्म-प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा ।
 बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट सग जनि देहि बिधाता ।
 जेते दुख दारुण जग नाना, सब तें अधिक जाति-अपमाना ।
 जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ।
 काढर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसां पुकारा ।
 नहि कोउ अस जनमा जग माही, प्रभुता पाइ जाहि मद नाही ।

तुलसीदास जी की महिमा-गरिमा का अनुमान लगाना एक
 छोटे से लेख की सामर्थ्य के बाहर है । इस महर्षि-महाकवि का
 पाश्चात्य महानुभावों तक ने स्तोत्रगान किया है । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ
 विंसेंट स्मिथ की एक सम्मति का अनुवाद यहाँ कविता-कौमुदी
 के प्रथम भाग से उद्धृत किया जाता है—

“वह कवि हिन्दी कविता-कानन में सबसे बड़ा वृक्ष है। उनका नाम न तो आईन-ए-अकबरी में मिलेगा और न मुसलमान इतिहासकारों की पुस्तकों में, और न उनका पता किसी फ़ारसी इतिहासकार के बयान से तैयार की हुई किसी योरोपीय लेखक की पुस्तक में ही लगेगा। तो भी वे अपने समय में भारत में सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। यहाँ तक कि उन्हें अकबर से भी बड़ा कहा जा सकता है। क्यों कि लाखों स्त्री और पुरुषों के हृदय पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की है, वह उम बादशाह की जीती हुई कितनी ही लड़ाइयों से अधिक चिरस्थायिनी है।”

“यह कवि तुलसीदास थे.....”

“जिस ग्रंथ पर उनकी कीर्ति अवलंबित है उसका नाम ‘रामायण’ है।..... इस ग्रंथ का ईश्वरवाद ईमाई धर्म से इतना मिलता-जुलता है कि उसमें से बहुत से प्रसंग राम के स्थान ईसु रखने से ईमाइयों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। प्रियर्सन कहते हैं और ठीक कहते हैं कि किसी प्रार्थना-संग्रह में उन्हें स्थान मिल सकता है..... हिन्दी साहित्य में यह ग्रंथ अद्वितीय है। इसके प्रभाव के विषय में कुछ कहना असंभव है।.....”

मीराबाई

जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेड़ता नामक जागीर के चौकड़ी गाँव में मीराबाई का जन्म हुआ था। इनके जन्म-संवत् के बारे में ऐकमत्य नहीं है, परन्तु सामान्यतः इनका जन्मकाल संवत् १५५५ और १५६० के बीच में माना जाता है। इसी तरह इनके परलोक-गमन का संवत् भी एक मत के अनुसार १६०३ कहा जाता है, पर भारतेन्दु ने उसे १६०० और १६३० के बीच में बताया है।

मीरा का विवाह उदयपुर के राणा सांगा के बड़े लड़के भोजराज के साथ संवत् १५७३ में हुआ। विवाह होने के बाद दस वरम के भीतर ही भीतर ये विधवा हो गई। पुरातन जन्मों के संस्कार से इन्हें बचपन में ही कृष्णभक्ति का चसका लग गया था। कहा जाता है कि जब ये बिलकुल छोटी ही थीं तब एक साधु इनके पिता के घर आया था जिसके पास कृष्ण की एक प्रतिमा थी। मीराबाई उस प्रतिमा के लिए मचल गई और उसे लेकर ही मानीं। उस प्रतिमा को ये विवाह के बाद अपने साथ सुसराल भी लेती आई।

कृष्णभक्ति की तल्लीनता में उन्होंने अपने विवाहित जीवन को लोकानुमत रूप में अंगीकार नहीं किया था। अतः वैधव्य प्राप्त होने पर भी उनके ऊपर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे साधु-सन्तों तथा महात्माओं की संगति में अपना समय बिताने लगीं। इनके देवर विक्रमादित्य, जो उस समय राणा थे, इनको इस

मार्ग से विपथ कराने के लिए तरह-तरह के उपाय करने लगे। उन्होंने कई स्त्रियाँ इन्हें समझाने के लिए भेजीं, पर मीरा के पास पहुँच कर वे भी उन्हीं के रंग में रँग गईं। तब राणा ने अपने कुल की बदनामी के डर से मीराबाई के प्राण ही लेने का इरादा कर लिया, उन्होंने उनके पास विष का पात्र भेजा, पिटारी में बंद कर के साँप भेजा। परन्तु विषपान से मीरा का कुछ भी अहित न हुआ और पिटारी में साँप के स्थान में सालिगराम निकले। मीरा ने इन घटनाओं का स्वयं जिक्र किया है—

राजा रूठे नगरो राखें, हरि रूठ्याँ कह जाणा ।

राणें भेज्या जहर पियाला, इमरत करि पी जाणा ॥

डबिया में भेजा जु भुजंगम, सालिगराम करि जाणा ।

मीरा ना अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पाणा ।

जब इनको बहुत अधिक मताया गया तो ये मेवाड़ छोड़कर चली गईं। मालूम होता है समाज ने भी इनके साथ अधिक उदारता का बर्ताव नहीं किया होगा, क्योंकि अपने पदों में इन्होंने स्थान स्थान पर लाज, कुलकानि आदि त्याग देने का निर्भीकतापूर्वक उल्लेख किया है, जिसकी शायद इन्हें जरूरत न पड़ती यदि लोगों ने इस तरह की बातें कह कह कर इन्हें बदनाम करने की प्रवृत्ति न दिखाई होती।

कहा जाता है कि एक बार मीराबाई वृन्दावन के साधु जीव गोसाईं के दर्शन करने के लिए पहुँचीं। जीव गोसाईं स्त्रियों से नहीं मिलते थे और उन्होंने मीराबाई से मिलने से इनकार कर

दिया। इस पर मीराबाई ने उत्तर दिया कि मैं तो सिवा कृष्ण के सबको स्त्रीवत् ही समझती थी, पर आज मानूँ ही हुआ कि आप भी एक पुरुष हैं। तब गोसाईं जी बड़े शरमाए और स्वयं ही बाहर आकर उन्होंने मीराबाई का स्वागत किया। मीराबाई के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि अपने संबंधियों द्वारा बहुत अधिक त्रासित की जाने पर इन्होंने तुलसीदास जी को एक पत्र लिखकर उनसे पूछा था—‘हमकू कहा उचित करिबो है सो लिखियां समुझाई।’ तुलसीदास जी ने इसका यह उत्तर दिया था—

जाके प्रिय न राम बेदेही

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

संत रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा ने स्वयं इस बात को कहा है। “मीरा ने गोव्यन्द मिल्या जी, गुरु मिल्या रैदास।” कबीर की भाँति मीरा ने भी गुरु की बहुत बड़ी महिमा बनाई है, और सत्संग को भी बड़ा महत्त्व दिया है।

मीरा के पदों में यद्यपि कहीं कहीं ब्रह्मवाद, ‘निर्गुन सेज,’ ‘अनहद की भनकार’ आदि का जिक्र आया है, तथापि वे निर्गुणोपासिका नहीं थीं। वे कृष्ण की मोहिनी मूर्ति पर अनन्य रूप से अनुरक्त थीं और उनको अपने पति के रूप में मानती थीं। कृष्ण के प्रेम से उनकी आत्मा सराबोर थी। वास्तव में उनको उपासिका-मात्र कहना अनुचित होगा। उनकी भावना उपासना के क्षेत्र में बहुत ऊँची उठकर उत्कट प्रणय का रूप बन गई है। निर्गुणोपासना का ज्ञान के साथ जो संबंध रहता है उसकी इनके निर्गुणसंबंधी

पदों में भक्तक होते हुए भी इनका प्रेम ज्ञान से व्याप्त नहीं हुआ है बल्कि प्रेम ही ज्ञान को व्याप्त कर लेता है। 'ज्ञानगती' में निकल कर, 'ऊँचो अटरिया' की 'निर्गुणमेज' की ओर अपसर होनी हुई भी मीरा मिलनोन्मुक्त प्रणयिनी के शृंगार में ही मुख पाती है, जैसे—

मान अपमान दोऊ घर पटके निकसी हूँ ग्यानगली ।
 ऊँचा अटरिया लाल क्विड़िया निरगुण सेज बिछी ।
 पंचरंगा झालर मुम सोढे फलन फूल कली ।
 बाजूबंद कड़ला सोढे सिन्दुर मोंग भरी ।
 सुवरण थाल हाथ में लान्हा सोभा अधिक खरी ।
 मेज सुखमणा मीरा सोढे मुम है आज घरी ॥

इसी प्रकार इस पद में—

मैं गिरिधर रँगराती, सैयाँ० ।
 पँचरँग चोला पहिरि सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।
 ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती ।
 जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती ।
 मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहूँ आती जाती ।
 चंदा जासी सूरज जासी जासी धरण अकासी ।
 पवा पाणि दोनूँ ही जासी अटल रहै अविनासी ।
 सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसा की करले बाती ।
 प्रेम हटी का तेल मँगा ले जग रह्या दिन ते राती ।
 सतगुरु मील्या साँसा भाग्या सैन बताई साँची ।
 ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासो ।

‘पंचरंग चोला’, ‘भिरमित’, ‘खोल मिली तन गानी’ आदि में व्यंग्य लक्ष्य है, तथापि इस की ध्वनित मनोवृत्ति पूर्ण शृंगार की ही है और ‘गिरिधर रंगराती’ तथा ‘मीरा दासी’ का वाच्य उस मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण है ।

मीरा का ‘गिरिधर’ या ‘गोपाल’ पूर्ण पुरुष के रूप में ‘अविनासी’ है और, अभेद के कारण, स्थान स्थान पर, उसे राम भी कह दिया गया है । फिर, अन्यत्र उसके नाम ‘नारायण’, ‘गोविंद’ आदि भी हो जाते हैं । पर जिस किसी रूप में भी हो, मीरा उसकी प्रणयिनी है । समय समय पर, जब प्रणय-लालसा अति तीव्र हो उठती है तो, मीरा उसके पूर्णपुरुषत्व को विलीन करनी हुई मी उसे अपना ‘बालम’, ‘मोहन’, ‘पिया’, ‘सजन’ आदि कहने में संकोच नहीं करती । अंगी प्रणय की किसी अन्य भावस्थिति में वह उसे ‘साहब’ और ‘महाराज’ भी कह लेती है, और उसको सलाम भी भेजती है, जिसमें दीनता और विनति का प्रश्रय रहता है, यथा -

छोड़ा छोड़ा कुल की लाज साहिब तेरे कारणों ।

थोड़ी थोड़ी लिखूँ सलाम बहुत करि जाणज्यो ।

बंदा हूँ ग्वानाजाद मेहर करि मानज्यो..... ।

मीरा चरणों की दास..... ॥

मीरा अपने प्रणयपात्र के प्रेम की उत्कटता में हर समय ‘दरद-दिवानी’ रहती थीं । इस दरद-दिवानीपन के एक पक्ष में वह परम माहसी और निर्भीक है और दुनिया का सब कुछ त्याग कर लोगों को चिल्ला चिल्ला कर सुनाती फिरती है—‘मीरा गिरिधर

हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ो', 'बरजी मैं काहु की नाहि रहैं', 'म्हारो कोई न रोकनहार,' 'कुल की कान छौंड़ि दई.....होनी होय सो होई' आदि। पर दृमरे पक्ष में वह नितान्त अबला है; उसका संपूर्ण आत्मभाव आत्मसमर्पण में बह चुका है, और उसकी कानर दृष्टि टेक के लिए अपने प्रभु की ओर ही लगी रहती है।

बड़े यत्न से, बड़े क्रीमती जल से, उमने अपने प्रेम की बेल को सींचा है। "अँमुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेल बोई।" इस प्रेम से उत्पन्न हुए दरद की अवस्था में तो वे विरहोत्कंठिता ही दिगवाई देती हैं, परन्तु दृसरी अवस्थाओं में हम उन्हें कभी तो मिलन आशा से उत्सुक और उत्फुल्ल नवयौवना नायिका के रूप में भी देखते हैं और कभी कुतसंगला संयुक्ता के रूप में भी। इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत उनके संचारियों और अनुभावों के रूप में कहीं उपालंभ दिगवाई देता है, कहीं निहोरे किये जाते हैं और कहीं दीनता धर दवाती है और मीरा अपने को पामाल कर लेती है। इन्हीं भाव-परिवर्तनों के अनुरूप मीरा का नायक भी मोहन, साँवरिया, सजन, महाराज आदि भिन्न-भिन्न रूपों में उसके सामने प्रकट होता है। सारांश यह है कि जिस जिस बदलने वाली स्थिति में मीरा अपने आप को पाती है उसके अनुसार ही उनकी भाव-परंपरा के परिवर्तन से, उनके स्वामी के रूप भी बदलते रहते हैं। प्रभु के इन भिन्न-भिन्न रूपों को स्वतन्त्र मानकर उन्हें मीरा के तत्संबंधी दृष्टिवोण का भेद समझना हमारी भूल होगा। वे मीरा के ऐकरस्य की केवल संचारी अवस्थाएँ भर हैं। कैसे कैसे मीरा

का प्रेम भिन्न-भिन्न भावस्थितियों में संचरण करता हुआ बढ़ता है, इसे हम कतिपय उदाहरणों द्वारा देखेंगे ।

सूरदासजी की गोपियों के हृदय में जो 'तिरछे हैं जु अढ़े' थे सन्हींने अपने समस्त अगों की टेढ़ाई से मीरा के नेत्रों को भी उलझा लिया है—

निपट बंकट छबि अटके ।

देखत रूप मदनमोहन को पियत पियूखन मटके ।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके ।

टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ॥

ये रूपलुभानी मीरा अपनी मिलनोत्सुकता में कहती है—

(क) म्हाने चाकर राखोजी, गिरिधारा लला, चाकर राखो जी ।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसन पासूँ ।

बिन्द्रावन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ ।

ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी ।

साँवरिया के दरसन पाऊँ पहिरि कुमुभा सारी ।

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रह्यो जाँ धीरा ।

आधी रात प्रभु दरसन देखैं, प्रेमानदी के तीरा ॥

(ख) मुख की सेज बिछाऊँगी ।

पिया पलंग पे जा पौढ़ूँगी मीरा; हरि रँग राचूँगी ... ॥

मिलन हुआ भी परन्तु विछोह देने के ही लिए, विरह-वेदना उत्पन्न करने के लिए—

सोवन ही पलका में मै तो, पलक लगी पल में पीव आए ।
 मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पीव हूँ न पाए ।
 और सखी पिव सोइ गमाण, में जु सखी पिव जागि गमाण ॥
 इसके बाद विरह की वेदना आरंभ हो जाती है—

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलन कैसे होइ री ।
 आये मेरे सजना, फिर गये अँगना, मैं अभागण रही सोइ री ।
 फारूँगी चोर, करूँ गल दाँथा, रहूँगी वैरागण होइ री ।
 चुरियाँ फारूँ, माँग बखेरूँ, कजरा मैं डारूँ धोइ री ।
 निसि बासर मोहि विरह सतावै, कल न परत पल मोइ री ।
 मीरा के प्रभु हरि अबिनासी, मिलि बिछरां मत षोइ री ॥
 पिय बिन सूनौ छै जाँ म्हारो देस ।

ऐसा है कोइ पीवकूँ मिलावै तन मन वरूँ सब पेस ।
 तेरे कारण बन बन डोलूँ कर जोगण को भेस ।
 अवधि बर्दाता अजूँ न आए, पंडर होइ गया केस ।
 मीरा के प्रभु कब र मिलोगे तजि दियो नगर नरेस ॥
 तदुपरान्त मीरा सँदेसा भेजती हैं—

जोगिया ने कह्यो जी आदेस..... ।

जोगणि होइ जुग हूँडसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ ।
 सावण आवण कह गया बाला कर गया कोल अनेक ।
 गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आँगलिया री रेख ।
 पीव कारण पीली पड़ी बाला जोवन वाली बेस ।
 दासी मीरा राम भजि के तन मन कीन्हो पेस ॥

इस समय मीरा की वेदना बहुत बढ़ गई है। वे उसके कारण दीवानी हो रही है। उनकी इस वेदना को कौन समझेगा ? उसे केवल दो ही व्यक्ति समझ सकते हैं—जिसको वह वेदना हो रही है, या फिर जिनने उस वेदना को उत्पन्न किया है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरा दरद न जाणै कोइ ।

घाइल की गति घाइल जानै, कां जिण लाई होइ ॥

इस दरद का कोई इलाज भी नहीं है। है भी तो केवल एक ही—

दरद की मारी बन बन डोलैं, बैठ मिल्या नहि कोइ ।

मारा की प्रभु पीर मिटेगी जब बैठ साँवलिया होइ ॥

पपोहा 'पिउ, पिउ' चिल्लाता है, उसकी बाणी से विरहिणी का दरद और भी बढ़ जाता है। उसे उसकी बोली बुरी लगती है, झुल्लाहट पैदा होती है। वह उसके पंख-वंख सब तोड़ कर फेंक देगी... और, पपीहे को 'पिउ' कह कर पुकारने का अधिकार ही क्या है ? संसार में केवल एक ही 'पिउ' है और वह मीरा का है, वह किसी और का नहीं हो सकता—

पपइया रे पिब की बानी न बोल ।

सुनि पावेली विरहणी रे थारी राखेली पाँख मरोड़ ।

चोंच कटाऊँ पपिया रे ऊपर कालर लूण ।

पिब मेरा मैं पीव की रे तू पिब कहै सु कूण ॥

पर दूसरों पर झुँझलाने से क्या होगा, जब उनका पीव स्वयं ही नटखट हो गया है, कठोर हो गया है। वह अब औरों के साथ खुद ही रमने लगा है—

आप न आवै, लिख नहिं भेजै, बान पड़ी ललचावन की ।
या फिर—

हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बड़े कठोर ।
तुमसे हममूँ कबर मिलोगे, हमसी लाख करोर ॥
मीरा अब अच्छी तरह समझ गई हैं कि—

दयाम म्हामूँ ऐंडो डोलै हो ।

औरन सो खेलै धमार, म्हासूँ मुख हूँ ना बोलै हो ।

म्हारी गलियाँ ना फिरै, वाके आँगन डोलै हो ।

म्हारी अँगुली ना छुवै, वाकी बहियाँ मोरै हो ।

म्हारी अँचरा ना छुवै, वाकी घूँघट खोलै हो ।

मीरा के प्रभु साँवरो, रँगरसिया डोलै हो ।

ईर्ष्या की इस अवस्था में उपालंभ होते हुए भी, मीरा में मान की कमी है, क्योंकि मीरा पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकी है। अतः उसमें दैन्य, निवेदन, मनावन ही का विशेषतः प्राधान्य है। इसलिए वह कहती है—

अबके जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ बिराज ।

म्हे तो जनम जनम की दासी, थे म्हाका सिरताज ॥

अथवा—‘हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ बिलम नहिं कीजियै ।

मीरा चरणों की दास, दरस अब दीजिये ।’

चरणों की दासी के नाते मीरा दया की भित्ता माँगती हैं—

“अब तो बेगि दया करि साहिब, मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ” और उन के प्रभु ने जिन जिन पहले के अधमों पर दया की है उनकी कोटि

मे अपने को रखती हुई निवेदन करती है—“हमने सुनीछै हरि अधम उधारन.... गज की भरजि गरजि उठि धायो रिखपतनी पर किरपा कीन्हो.....मीरा के प्रभु मो बंदी पर एती अबेर भई किस कारण ।” दैन्य, आत्म-तिरस्कार और प्रार्थना के इस स्वर में उसके “सैयाँ”, “साँवरो” की ध्वनि नहीं रह गई है, जिसके साथ कि वह “खोल मिली तन गार्ता”, प्रत्युत वह अब “अधम-उधारन हरि” हो गया है । पर, यह सब होने पर भी, मीरा का हृदय कहा जाएगा ? ‘मो बंदी’ (या बोंदा) के विशेषाधिकार को वह कैसे भूल जाए ? हाँ, निराश विरही के आत्मनिग्रह के रूप वह यहाँ तक कहने को नैयार है—

म्हारे नातो नाँव को रे और न नातो कोइ ।

मीरा व्याकुल विरहणी रे, दरसन दाजो मोइ ॥

मीरा की विरह-वेदना का देग्व कर गौन न पसीजेंगा, किसे दया न आएगी ? निष्ठुरता की भी हद ही होती होगी । मीरा का भी भाग्य जागा है । प्रभु के आगमन के शुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं—

मुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।

म्हैल चढ़े चाढ़ जोऊँ मंगी सजनी कब आवै महाराज ।

दादुर मोर पपड़या बोले कोइल मधुरे साज ।

उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणी छोड़ी लाज ।

धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण के काज ।

मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेगि मिलो महाराज ॥

लो, वह आ भी गया । मीरा की मनचाही हो गई । और, उस

का 'प्रभु हरि अबिनासी' उसके घर उसका 'साजन' बनकर आया है। मीरा की गृहीणी का ठिकाना नहीं—

सहेलियाँ साजन घर आया हो ।

बहोत दिनों की जोवती बिरहणि पिव पाया हो ।

रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो ।

पिया का दिया सनेसड़ा ताहि बहोत निवाजूँ हो ।

पाँच सखी इकठी भई मिलि मंगल गावै हो ।

पिय का रली बधावणा आनंद अंग न भावै हो ।

हरि सागर मूँ नेहरो नैणाँ बँधा सनेह हो ।

मीरा सखी के आँगणे दूधाँ बूठा मेह हो ॥

मीरा की मानसिक वृत्ति के अन्वेषण में कोई कोई महानुभाव रहस्यवाद को भी उसके किसी किसी पद में ढूँढने की कोशिश करते हैं। आजकल की आलोचना-प्रवृत्ति में हम लोग कुछ अधिक रहस्य-प्रधान अथवा रहस्यप्रवण हो गए हैं और प्रायः कवियों तथा कविताओं में रहस्य के लिए विशेष चौकन्ने रहते हैं। इसका कारण शायद आज कल के कुछ कवियों की रहस्यवादात्मक रुचि है जो सब को पसन्द नहीं आती। उसी की विरोधात्मक तुलना के लिए हम प्राचीन कवियों में से सच्चे रहस्यवाद को निकाल ला कर दिखाते हैं।

वैसे तो, कबीर वाले लेख में हमने कहा है, हम सब ही थोड़े-बहुत रहस्यवादी हैं, और हमने यह भी बताया है कि ऊँचे महात्मा तथा भक्त तो, अपनी जीवन-गति तथा भावधारा में, पूर्ण रूप से रहस्यवादी होते ही हैं। इस दृष्टि से मीरा भी पूर्ण रहस्यवादिनी है

(अथवा, कहना चाहिए, रहस्यभाविनी) हैं, क्योंकि, तर्क दृष्टि से, मीरा के लिए जीवव्यक्ति तथा परमव्यक्ति के युग्म के अतिरिक्त दूसरा युग्म ही नहीं है और पतिपत्नी का लौकिक युग्म उस एक युग्म का प्रतीक मात्र है। परन्तु स्त्री होने के कारण मीरा ने उस एकयुग्म की भावना को लौकिक पत्नी के हृदय से ही देखा है, लौकिक युग्म को पारमार्थिक युग्म की छाया में नहीं। कबीर स्त्री नहीं थे, इसलिए वे 'राम की बहुरिया' बन कर भी बहुरिया के हृदय से राम को ग्रहण न कर सके, वे केवल बहुरिया के आदर्श को ही पकड़ सके और राम को निर्दिष्ट न बना सके। यहाँ सगुण साधना और निर्गुण साधना का भेद भी आ जाता है। मीरा के राम या गोविंद (अथवा जिस किसी नाम से भी उन्हें पुकारा जाए) पूर्ण रूप से निर्दिष्ट है और मीरा भी अपने पत्नीत्व में पूर्ण रूप से निर्दिष्ट है। मीरा के प्रभु परब्रह्म आदि होते हुए भी उनके प्रेम के लिए तो व्यक्ति ही हैं। इसीलिए उनके दर्द का भी जो रूप है वह इतना स्पष्ट है।

ऐसी हालत में यदि हम मीरा के किसी पद में प्रकृति का हँसना खेलना देख लें तो उसी एक पद में रहस्यवाद की प्रवृत्ति को क्यों ढूँढ़ें ? प्रेमी भावक के लिए प्रकृति के पदार्थों को देखने तथा उनसे भावसंग्रह अथवा उनको भावप्रदान करने की सुमानियत तो है नहीं। लौकिक प्रेमी भी क्या अपनी संयोग और वियोग की अवस्थाओं में प्रकृति को देख कर आनन्दित अथवा खिन्न नहीं होते ? वसंतवाटिका में खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्प क्या दो संयोगियों

को हँसते हुए नहीं दिखाई देते ? तब मीरा के 'दादुर मोर पपइया' आदि ने ही क्या अपराध किया है कि उन्हें मीरा के मधुर मिलनोत्सव में सहयोग न देने दिया जाए ? मीरा की गहरी प्रेमभावना में इस प्रकार रहस्यभाव की पुट देना उसके प्रेम की गहराई को बहुत कुछ उथला बनाना है ।

मीरा के प्रेम की निर्दिष्टता तथा उसके दर्द का पूर्ण रूप एक बार स्पष्ट हो जाने पर मीरा के इस प्रकार के वर्णन हमारे सामने उसके भाव के उद्दीपनों के रूप में उपस्थित होते हैं जो मीरा के अनुभावों तथा संचारियों को प्रेरित करते हैं । उसकी ज्ञान आदि से संबंध रखने वाली उक्तियों को भी इसी प्रकार के व्यक्त संचारियों (अनुभावों ?) के रूप में ग्रहण करने से ही मीरा का भी वास्तविक रूप हम समझ सकेंगे । मूर को मूर-साहित्य का नायक मानते हुए हम उनकी इस प्रकार की उक्तियों को मूर के संचारी इसलिए नहीं मान सकते कि मूर में वह दर्द—दिवानापन—स्थायी रूप में नहीं दीखता जो कि मीरा में है । मूर में पांडित्य-लालसा तथा अपने पांडित्य का ज्ञान भी गूढ़ था और कृष्ण के प्रति वात्सल्य तथा शृंगार में मे रँग कर भी उन्हें बहुत सी दूसरी बातें कहने की फुरसत थी । कबीर में भी जो विचारों का विरोध दिखाया गया है वह यथार्थ विरोध ही है, किसी स्थायी भाव का संचारी नहीं, क्योंकि कबीर जिज्ञासु मात्र थे । दर्द का (या किसी भी प्रकार का) अविच्छिन्न स्थायी भाव यदि हमें किसी में दिखाई देता है तो केवल मीरा में ।

मीराबाई कवि नहीं थी । कवि बनने का उसका उद्देश्य नहीं

था। परन्तु जिस स्थिति में मीरा ने अपने को पहुँचा दिया था उसमें वाणीमात्र और कविता में कोई भेद नहीं रह जाता। मीरा का हृदय ही कविता का आदिस्वरूप बन गया है। उसमें से जो कुछ भी निकलेगा वह दरद-दीवानी की कसक के अनिरिक्त और क्या हो सकता है? उस कसक का केवल भावुकता के साथ अनुभव किया जा सकता है। उसको शास्त्र की छुरी से उधेड़ना कसक के रूप को भ्रष्ट करना और अपनी अहार्दिकता का विज्ञापन करना है। ऊपर जो संचारियों, अनुभावों आदि का जिक्र आया है वह मीरा की रचना की चीर-फाड़ के लिए नहीं, बल्कि मीरा के हृदय के थोड़ा बहुत निकट पहुँचने के लिए। इसीलिए यह भी कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि मीरा की स्थिति में, जहाँ वाणी और कविता एक होकर जागती हैं, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, संसार के भिन्न भिन्न संघर्षों, उपासना-पद्धतियों तथा भिन्न-भिन्न तात्त्विक सिद्धान्तों में भी कोई अलग भेद नहीं रहता। वे सब हृदय की एक अविराम प्रेमधारा की ऊँची-नीची लहरों के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

मीरा की भाषा में राजस्थानी, गुजराती और व्रज का सम्मिश्रण है। कहा जाता है कि गुजराती में भी मीराबाई की कुछ रचना पाई जाती है। उनकी लिखी हुई दो अन्य रचनाएँ 'नरसीजी का मायरा' और 'रामगोविन्द' भी बताई जाती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी 'कविता कौमदी', भाग १, में लिखा है — "मीराबाई संस्कृत भी जानती थीं। उन्होंने 'गीत-गोविन्द' की टीका लिखी है।"

केशवदास

केशवदास का समय मिश्रवन्धुओं ने संवत् १६१२ (या १६१८) से संवत् १६७४ तक माना है। परन्तु बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'कविता-कुंज' में केशवदास के परिचय में, इसे १४६४—१६८० बताया है।

केशवदास ओड़छं के रहने वाले थे और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। सनाढ्यों को ब्राह्मणों में ये परम महिमान्वित मानते हैं और यहाँ तक कहते हैं—'सनाढ्य जाति सर्वदा, यथा पुनीत नर्मदा। सनाढ्य वृत्ति जो हरै, सदा समूल सो जरै।' इस प्रकार की मनोवृत्ति अच्छी मनोवृत्ति नहीं है; परन्तु अपनी वंश-परंपरा के गौरव के साथ साथ कदाचित् जाति-गौरव की भी भावना को उन्होंने स्वाभाविक रूप से मिला लिया होगा। इनके पूर्वज बराबर संस्कृत के धुरीण विद्वान् होते आए थे। उनमें से किसी ने 'भावप्रकाश' नामक आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा था और स्वयं इनके पिता काशीनाथ ज्योतिःशास्त्र के सुपरिचित ग्रंथ 'शीघ्रबोध' के निर्माता थे। अपने कुल में केशवदास ही हिन्दी के पहले लेखक हुए हैं जिस का केशवदास ने स्वयं इस प्रकार जिक्र किया है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, शठ कवि केशवदास।

रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकाश ॥

तथा—भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास ।

भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केसवदास ॥

उस समय ओढ़छे के राजा रामसिंह थे, परन्तु वे अधिकतर दिल्ली में रहा करते थे और उन्होंने राज्य का कार-बार अपने छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर छोड़ रक्खा था। इन्द्रजीतसिंह के यहाँ केशवदास का बड़ा मान था। वे वस्तुतः इन्हें अपना गुरु मानते थे और उन्होंने इनको बहुत कुछ जागीर आदि दी थी। केशवदाम ने कहा है—“भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजे जुग जुग, केसोदास जाके राज राज सो करतु है ।”

इन्द्रजीतसिंह की इच्छा से इन्होंने अपने पहले ग्रंथ ‘रसिक-प्रिया’ की रचना की। इन्द्रजीत के दरबार में उनकी बहुत-सी रग्वैल नाचनेवालियाँ भी थीं जिनमें प्रवीणराय बड़ी प्रतिभावती थी। केशवदास जी उनके भी गुरु थे और उसे कविता सिखाते थे। उस के लिए उन्होंने ‘कविप्रिया’ लिखी। प्रवीणराय की स्तुति करते हुए इन्होंने उसे रमा, शारदा आदि की कौटि में रक्खा है।

संवत् १६६२ में अकबर मर गया और उसका लड़का जहाँगीर सम्राट् हुआ। इसके कुछ समय बाद जहाँगीर के एक कृपापात्र वीरसिंह ने रामसिंह से ओढ़छे का राज्य छीन लिया। केशवदास उसके भी राजकवि हुए और उसकी तथा जहाँगीर की ग्लशामद् में इन्होंने ‘वीरसिंहदेव-चरित’ तथा ‘जहाँगीर-जस-चन्द्रिका’ नामक रचनाएँ कीं। इन्द्रजीतसिंह, प्रवीणराय तथा वीरसिंह के अनिरिक्त केशवदास राजा बीरबल तथा एक किसी अमरसिंह के भी कृपा-

भाजन थे । 'कविप्रिया' में उन्होंने इन दोनों व्यक्तियों के दान का वर्णन किया है । राजा बीरबल ने तो, कहा जाता है, एक स्तुति-पुर्ण छन्द पर इन्हे तत्काल छे लागव रुपया दे डाला और अकबर द्वारा इन्द्रजीतमिह पर किए गए एक करोड के जुर्माने को माफ़ करा दिया । वह छन्द इस प्रकार है—

पावक पंछा पमू नर नाग नदी नद लोक रचे दसचारी ।

'केसव' देव अदेव रचे नरदेव रचे रचना न निवारी ।

के वर वीर बली बलवार भयो कृतकृत्य महा व्रतधारी ।

दे करतापन आपन ताहि दई करनार दुवौ कर तारी ॥

इस छन्द को सुनाकर केशवदास भी कृतकृत्य हुए और कृष्ण-ज्ञान-प्रकाशन के लिए उन्होंने पुनः दूसरा छन्द रचकर सुनाया जो यह है—

केसवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो ।

छोड़े झुझ्यो नहि धोये-धुयो, बहू तीरथ के जल जाय पखारयो ।

हँ गयो रंक ने राउ तहाँ जब वीर बली बलवार निहारयो ।

भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रख्यो मुख चारया ॥

इनके 'रसिक-प्रिया' और 'कविप्रिया' काव्यशास्त्र-संबंधी लक्षण-ग्रंथ हैं, जिनको इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर बनाया था । परन्तु, मालूम होता है, उनकी रचना के लिए किन्हीं अधिक माननीय ग्रंथों का अध्ययन इन्होंने नहीं किया । उनमें काव्य के बाह्यांगों का ही विवेचन है, वह भी बहुत कुछ भ्रान्त-सा । 'कवि प्रिया' में काव्यालंकार तथा काव्यदोष दिए गए हैं जिनका बहुत

कुछ आधार दंडी का 'काव्यादर्श' है परन्तु अलंकारों तथा दोषों के नामों में इन्होंने अपनी तरफ से भी बहुत कुछ फेरफार कर दिया है। दंडी के 'काव्यादर्श' में रसादिक का विवेचन नहीं है। परन्तु रस तथा ध्वनि जैसे किन्हीं तत्वों के विषय में दंडी ने सुन अवश्य रक्खा था, जिन्हें अच्छी तरह समझ न सकने के कारण वे उन्हें 'रसवन' अलंकार से ऊँचा न उठा सके। केशवदास ने भी 'रसवत्' अलंकार को माना है। यद्यपि इन्होंने 'रसिकप्रिया' में नौ रसों तथा भावभेदों का प्रसंग उठाया है परन्तु दंडी की भाँति वे भी रस-सिद्धन्त को अच्छी तरह हृद्यंगम न कर सके। उन्होंने तमाम रसों को शृंगार में ही मिलाने की चेष्टा की है। परन्तु केशव के समय तक हिंदी में लक्ष्मणग्रंथ-रचना की पद्धति चली नहीं थी। केशवदास इस दिशा में एक प्रकार से अग्रणी है, अतएव अपने इन दो ग्रंथों के कारण वे आचार्य कहे जाते हैं।

केशव-रचित अन्य ग्रंथों के नाम 'नख-मिख', 'रतन-बावनी', 'रामचंद्रिका' और 'विज्ञान गीता' हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने पिंगलशास्त्र की भी कोई पुस्तक लिखी थी, परन्तु उसका अभी कोई पना नहीं चला है। इनके तमाम ग्रंथों में रामचन्द्रिका सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसके कारण इनको 'महाकवि' की उपाधि दी गई है। रामचन्द्रिका को लोग महाकाव्य कहते हैं। केशव जी ने कहा है कि इस ग्रंथ की रचना उन्होंने स्वप्न में वाल्मीकि जी के कहने से की और तभी से उन्होंने रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव बनाया। "बाल्मीकि मुनि स्वप्न महँ दान्हो दर्शन चारु।" इसके

बाद ऋषि से रामनाम का उपदेश ग्रहण करके “केशवदास तही करयो रामचन्द्र जू इष्ट ।”

परन्तु रामचन्द्र का इष्ट करने पर भी ये रामचन्द्र के कोई भावुक भक्त थें, ऐसा रामचन्द्रिका के पढ़ने से नहीं मालूम होता । परंपरानुगत रूप में, जिस तरह बहुत से सांसारिक करते हैं, राम को बड़े में बड़ा ईश्वर मानते हुए भी केशवदास उनके लिए कहीं द्रवित होते नहीं दिखाई देते, और न उनका वर्णन करने में यथोचित मर्यादा का ही ध्यान रखते हैं । कारण इनका राजसी जीवन और इनकी रसिक—(लौकिक के रूप में, भावुक के रूप में नहीं)—प्रकृति कही जा सकती है । अपनी रसिकता के लिए तो ये बदनाम से भी हैं । केशव का निम्नलिखित विषादपूर्ण दोहा बहुत-से लोग जानते हैं और इनको समस्त रचनाओं में इनका यह दोहा ही शायद सबसे अधिक प्रसिद्ध है—

केसव केसनि अस करो, जस अरिहू न कराहिं ।

चंद्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि ॥

फलतः हम देखते हैं कि ‘रामचन्द्रिका’ में राम का वर्णन अधिकतर शृंगारपूर्ण है । एकाग्र स्थान पर स्त्रैण भावमूचक भी है, जैसे वनवास में—

मग को भ्रम श्रीपति दूर करै सिय को, शुभ बाकल अंचल सों ।

भ्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दगंचल सों ॥

इसमें राम और सीता, दोनों, ही की मर्यादा पर पानी फेर दिया गया है । वनवास के बाद जब रामचन्द्र राजधानी को लौट आकर

राजकार्य सँभालते हैं और भिन्न भिन्न स्थलों अथवा विभागों का निरीक्षण करते हैं तो उन्हें धनागार, सुगंधागार, जलशाला और मेवाओं के भंडार के अतिरिक्त और कोई डिपार्टमेंट मुआइने के लिए मिलता ही नहीं—इनने बड़े बड़े शत्रुओं का विध्वंस करने वाले, अश्वमेध-यज्ञ संपन्न करने वाले, इनने प्रतापी राजा की राजधानी में क्या कोई आयुधागार तक नहीं था ? राजसी ठाट-बाट की चमक-दमक तथा शृंगारी वृत्ति की भोंक में केशवदास यह भी भूल गए कि आगे चलकर इन्हीं राम के विषय में उन्हें यह कहना है कि—

नाद पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,

सोखि सोखि जल भूरि भूरि थल गाथ की ।

केशोदास आस पास ठौर ठौर राखि जन,

तिनकी संपति सब आपने ही हाथ की ।

उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,

शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की

मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,

आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥

केशवदास की रामभक्ति कुछ ऐसी पोच-सी तथा ऊपरी प्रतीत होती है कि उनकी कृत्रिम वृत्तियों के प्रवाह में वह बिलकुल बह जाती है। बहुत से उपमानों को खोजने की वेतुकी बहक में वे एकदम भूल जाते हैं कि राम कौन है और उनके बारे में वे क्या कह रहे हैं। वे उन्हें चोर, उल्लू, साँप आदि तक कह जाते हैं।

यथा—

चतुर चोर से शोभित भए । धरणीवर धनशाला गए ।
तथा—बासर की संपत्ति उल्लूक ज्यों न चितवत,

चकवा ज्यो चंद चितै चौगुना चँपत है ।

केका सुनि व्याल ज्यों बिलात जात घनश्याम ॥

परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से यही राम वे राम हैं जिनके लिए उनके समुद्र जनक तक यह कहते हैं कि—

सिद्ध समाधि सजै अजहूँ न कहूँ जग जोगिन देखन पाई ।

रुद्र के चित्त-समुद्र बसै नित ब्रह्महु पै बरनी नहिं जाई ।

रूप न रंग न रेख विमेष अनादि अनन्त जु वेदन गाई ।

केसव गाधि के नंद हमैं वह ज्योति सो मूर्तिवंत दिग्विह ॥

केशव की राम-भायना के संबंध में इतना जान लेने पर हमारी यह आशा नहीं रहती कि उनकी रचनाएँ भक्तिकाव्य के ढंग की होंगी। इससे ही हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि प्राकृत काव्य की दृष्टि से भी हृदय की किसी सात्विक वृत्ति की गंभीरता अथवा जीवन के व्यापक रूप की ओर किसी प्रकार की निर्व्याज सहानुभूति उनके कवि-कर्म में हमको कम दिखाई देगी। एक ओर तो वे अपने इष्टदेव तक के प्रति अपने भावों को एक-रूपता नहीं दे सकते और दूसरी ओर वे बुढ़ापे पर कुढ़नेवाले रभिक-शिरोमणि रईस तथा पूरे रईस-मिजाज दरबारी कथक (या कवि) हैं, जो एक स्वामी के हास के बाद उस पर अत्याचार करनेवाले दूसरे व्यक्ति को ही अपना प्रभु बना लेते हैं और चाटुवादों द्वारा अपना ऐश्वर्य बढ़ाते

हैं। जागीर की रक्षा की दृष्टि से 'वीरसिंह-देवचरित' तक भी गनीमत थी, परन्तु 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का लिखा जाना जिन परिस्थितियों में आवश्यक हुआ उन्हें जाने बिना केशवदास की मनोवृत्ति में किन्हीं चरित्रभूत उदार सिद्धान्तों का ढूँढना निरर्थक है। व्यापक मानव-जीवन अथवा सामाजिक सूत्रों के प्रति सहानुभूति रखने का प्रश्न तो दूर है, केशव की रचनाओं में घर के भीतर की सामान्य समस्याओं - दांपत्य-संबंध, वात्सल्य, प्रेम आदि की संवेदनाओं तक का कोई रूप दिखाई नहीं देता। दरबारी जीवन के बनावटीपन तथा उसकी पावंदियों ने, मालूम होता है, केशव में सहृदयता तथा पारस्परिक संबंधों की सहज भावुकता को अधिक पनपने का अवकाश नहीं दिया। इसीलिए अपने कविकर्म के प्रति भी उनको कोई सहृदयता नहीं है, उसमें कृत्रिमता है, उसे भी वे अधिकतर दरबारी पोशाक ही पहनाने की चेष्टा करते हैं, जिसमें मंत्रम के कारण अकसर मिस्री और मुग़मे का स्थान बदल जाया करता है।

कुछ महानुभाव केशव की कविता पर बहुत लट्टू हैं और उसमें से ढूँढ ढूँढ कर गुणों की खोज किया करते हैं। हम यह नहीं कहते कि केशव में कहीं भी कवित्व दिखाई नहीं देता। किसी कर्म का अभ्यास स्वयं अपने गुणों से खाली नहीं होता, और केशव ने लिखा भी काफी है। गुणों के स्थान पर हम उनके गुणों पर भी दृष्टिपात करेंगे। परन्तु केशव की कविता के गुणों को सराहने के लिए, हम समझते हैं, पहले उसके अवगुणों का ज्ञान लेना ज्यादा अच्छा है।

अभी कहा गया है कि केशव की कविता में कृत्रिमता बहुत है। इस कृत्रिमता का रूप है कवि की अतिशय अलंकार-प्रियता। केशव ज़बरदस्ती, मौके-बेमौके, अपनी उक्ति को सजाने की धुन में रहते हैं, गोया कि उसको वह नुमाइश की कोई चीज़ या राज-दरबार की नर्तकी बनाना चाहते हों। इस अलंकार-प्रियता का कारण उनकी पांडित्य-प्रदर्शन की स्पृहा और अलंकारों की कसरत में सरकस के से चमत्कार दिखाने की उत्कट लालसा है।

इसके परिणामरूप में केशव की कविता में एक बड़ी भारी बुराई भाववैषम्य की पैदा हो जाती है। भाव से प्रेरित उक्ति में जो अलंकार स्वाभाविकतावश आजाते हैं वे उपयुक्त भाव को प्रेरित करने में, या कम से कम मन को विनोदित करने में, सहायक होते हैं। “ये नागपुर की इमरतियाँ चार आने सेर” पुकार पुकार कर अपने संतों के ठेले को गली गली फिराने वाला व्यक्ति भी कोई बहुत बुरा अलंकारी कवि नहीं है। अलंकार के दो ही उपयोग तो हैं—अर्थ-सौकर्य या भावसौकर्य और चमत्कार द्वारा आनन्द-प्रदान। आनन्द-प्रदान भी अर्थ-सौकर्य का ही आश्रय है। संतरा बेचने वाले के शब्दों में हमें ये दोनों तत्व मिलते हैं। परन्तु केशव में अर्थ-सौकर्य तो कहीं भूले-भटके ही हाथ लग जाए तो लग जाए। कारण, कि उनके पास अर्थ की, कहने के लिए किसी चीज़ की, कमी है।

केशव का पांडित्य-प्रदर्शन प्रायः सन्देह तथा उत्प्रेक्षाओं द्वारा उपमानों का जमघट उपस्थित करने में दिखाई देता है। परन्तु उपमान तो घर की दीवारों के भीतर या राजदरबारों में बिकते नहीं

विशेषतः सार्थक, साभिप्राय उपमान । अतः केशवदास जी कहीं तो श्लेष द्वारा अप्रयोज्य उपमानों को बटोरते हैं, कहीं शब्दसाम्य-मात्र की शरणा लेते हैं और कहीं अपनी खोज के लिए अमूर्त मनोलोक या अध्यात्म जगत् की यात्रा करते हैं । नीचे के उद्धरण में एक दर्जन उपमानी रंगरूट ड़िल के लिए पंक्तिबद्ध खड़े दिखाए गए हैं—

पंजर के खंजरीट नैनन को केशोदास,
 कैधों मीन मानस को जलु है कि जारु है ।
 अंग को कि अंगराग गेंडुवा कि गलमुई,
 किधों कोट जीवर्हा कों उरको कि हारु है ॥
 बंधन हमारो कामकेलि को कि ताड़िये को,
 ताजनो बिचार को कै व्यजन बिचारु है ।
 मान की जमनिका के कंजमुख मूँदिये को,
 सीताजू को उत्तरीय सर्व-सुख-सारु है ॥

उधर श्लेष की अलौकिक शक्ति यह है वह जंगलों को आदमी बना सकता है । दंडक वन किस तरह पंच पांडव बन जाता है यह नीचे के छंद में द्रष्टव्य है—

पांडव को प्रतिमा सम लेखो । अर्जुन भीम महामति देखो ॥

उसी शक्ति से वन कभी अमूर्त हो कर राज-सेवा का रूप भी ग्रहण कर लेता है और विल्वफल के रूप में अपनी मज़दूरी पा लेता है । उसके तत्काल ही बाद वह प्रलयकाल की ज्वालाओं का दृश्य भी उपस्थित कर देता है, यथा—

शोभत दंडक को रुचि बनी । भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी ॥
 सेव बड़े नृप की जनु लसे । श्रीफल भूरि भयो जहँ बसे ॥
 बेर भयानक सी अति लगे । अर्कसमूह जहाँ जगमगे ॥
 नैनन का बहु रूपन ग्रसे । श्रीहरि की जनु मुरति लसे ॥

इस उदाहरण में नोट करने की यह एक बात है कि 'भाँतिन भाँतिन सुंदर,' बनी राजसेवा के 'सुंदर' रूप से एकदम प्रलयाग्नि बन कर किस प्रकार पूर्वभाव का निरस्कार करती हुई फिर, उसी भाव-विषमता की प्रणाली में, श्रीहरि का रूप ग्रहण कर लेती है । एक भाव से तत्काल उसका विरोधी दूसरे भाव पर उतरना कितना सुखप्रद हो सकता है और उससे कितना पदार्थबोध हो सकता है, यह सोचने की बात है । विरोधाभास की एक कण्ठ में फूलों का बगीचा किस प्रकार भाववैषम्य की भी परिधि लाँघ कर घोर जुगुप्सा का मूर्त रूप बन जाता है, यह नीचे के उदाहरण में देखा जा सकता है—

देखी बनवारी चंचल भारी तदपि तरोधन मानी ।

अति तपमय लेखी गृहथित पेंवा जगत दिगंबर जानी ॥

जग जदपि दिगंबर पुष्पवती नर नरखि निरखि मन मोहैं ।

पुनि पुष्पवती तन अति अति पावन गर्भ सहित सब साहैं ॥

एक स्त्री है । वह गर्भवती है । गर्भवती के ध्यान से फूले पेट वाली स्त्री का चित्र स्वाभाविकतया सामने आता है । फिर वह स्त्री नंगी भी है और विरोधाभास से रजस्वला भी है । यदि ऐसी स्त्री का सौंदर्य हृदयंगम किया जा सकता है तो दशरथ की पुष्प-

वाटिका का भी सौंदर्य हृदयंगम किया जा सकता है। वेपर की उड़ान का एक और उदाहरण नीचे दिया जाता है—

भृकुटी विराजत स्वेत मानहु मंत्र अद्भुत साम के।

जिनके विलोकित ही बिलात अशेष कार्मुक काम के ॥

मुख बास आस प्रकास केशव भौर भीरन साजही।

जनु साम के शुभ स्वच्छ अक्षर ह्वै सपक्ष विराजहीं ॥

भरद्वाज की सफेद भौंहें सामवेद के मंत्र हो गईं। सामवेद के सफेद मंत्र कभी देखें होंगे तो अवश्य अन्दाज़ा हो जाएगा कि वे भौंहें कैसी थीं। भरद्वाज के मुख की सुगंध से भौंरें घिर घिर कर आ रहे थे जो सामवेद के मंत्रों के अक्षर थे। लाला भगवानदीन जी ने इस छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार माना है। परंतु केशवदास जी शायद अकेले उत्प्रेक्षा की ही बात नहीं सोचते थे; उनके मन में शायद सांग-रूपक की वासना भी तड़प रही थी जिससे 'काम के कार्मुक' और 'मुखवास' के भिन्न मार्ग में जाकर भी एक बार मुड़ कर फिर साममंत्रों के अक्षरों की ओर देख लिया परंतु काम के कार्मुक और मुखवास के व्यवधान तथा उपमेय भौंह के निरंग होने के कारण सांग-रूपक बन नहीं सका। इसके अनिरिक्त, उक्त छंद में यद्यपि निरोधाभास तो नहीं है, पर भाववैषम्य पैदा करने वाला प्रकृत विरोध अवश्य है। सफेद मंत्रों के काले काले अक्षर ! और वे उड़ भी रहे हैं, मंत्रों (भौंह) से एकदम तटस्थ होकर ! मुश्किल यह है कि इसे असंगति भी तो नहीं कह सकते। केशवदास के छंदों में इस तरह का बहु-अलंकार-संभ्रम प्रायः देखने को मिलता है।

कभी कभी यह भी देग्वने में आता है कि अलंकार-तुमुलता न होने पर भी, तथा किसी उक्ति के अवसरानुकूल होते हुए भी, दूर-ध्वनि अच्छी नहीं निकलती। लव और कुश के द्वारा राघवों की सेनाओं का घुरी तरह संहार होने पर भरत राम से कहते हैं—

बालक रावण के न सहायक, ना लवणामुर के हित लायक।

हे निज पातक वृक्षन के फल, मोहत है रघुवंशिन के बल ॥

यह सही है कि भरत नहीं जानते कि बालक (लव-कुश) राम और सीता के पुत्र हैं, परन्तु केशव और रामचन्द्रिका के पाठक इस बात को अवश्य जानते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत शीघ्र ही लव-कुश की असलियत खुलने वाली भी है। ऐसी दशा में उन्हें किमी पात्र के मुख से 'निज पातक वृक्षन के फल' कहलवाना भावी के संबंध में एक अशुभता और कौलीन की अव्यक्त ध्वनि देना है। और दुर्भाग्य से भाग्य का कटु व्यंग्य इस ध्वनि को सहारा दे रहा है, क्योंकि वहाँ बाप और बेटों का प्रत्यक्ष युद्ध उपस्थित है। यदि ध्वनि में कुछ भी सचाई होती तो हम उसी का पूर्व-सूचना (Dramatic Irony) के रूप में काव्यकार का गुण मान सकते थे।

पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ के कारण अलंकार-तुमुलता, उसके लिए संगृहीत भिन्न भिन्न उपायों, तथा उससे पैदा होने वाले प्रथम दोष, भाव-वैषम्य, को हमने देख लिया। दूसरा भारी दोष जो उससे उत्पन्न होता है वह प्रबंध में देखने में आता है। रामचन्द्रिका के रचयिता होने के नाते केशवदास प्रबन्ध-कवि भी कहलाने का

दावा कर सकते हैं। परन्तु भाव के प्रति उनकी अत्यंत उपेक्षा रहने से हमें उनके प्रबन्ध-काव्य में प्रबन्ध की हीनता दिखाई देती है।

पाणिभाषिक संज्ञाओं में हम राम के अपनी पत्नी तथा पुत्रों से मिलन को काव्य का 'कार्य' कह सकते हैं और राम को 'फलागम' का अधिकारी या काव्य का नेता। सीता 'आलंबन' है। इस दृष्टि से काव्य का स्थायीभाव 'रति' होगा और नायक 'धीरललित' या राम की लोकप्रसिद्ध विशेषताओं के कारण, 'धीरोदात्त'। धीर-ललितत्व या धीरोदात्तत्व का निर्णय 'अनुभाव' और 'संचारी' कराएंगे। इनके द्वारा पुष्ट होकर स्थायी 'रति' को 'शृंगार' रस की पदवी प्राप्त होगी।

केशव की प्रवृत्तियों के सहारे, संभव है, यह कह दिया जाय कि 'रामचन्द्रिका' शृंगारी काव्य है। उसमें 'पुष्पवती' वाटिका या कन्या के जैसे वर्णन जो है, इसलिए ! परन्तु क्या इस ग्रंथ में 'शृंगार रस' भी है ? शृंगार रस की पुष्टि के लिए नायक का स्थायी रति-भाव कहाँ है ? संयोग के, या विप्रलम्भ के, या पुनः संयोग के दिनों में राम अपने आलंबन के लिए किन किन भावपरंपराओं तथा चेष्टाओं में लीन होते दिखाई देते हैं ? संक्षेप में, फलस्वामित्व के लिए उनकी कितनी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और वे उसके लिए कितना उद्योग करते हैं ?

इन सब का उत्तर तो हमको 'न'-कार में ही मिलता है। रामचन्द्रिका के आकार का अधिकांश विभव, शोभा तथा पदार्थों आदि के वर्णनों में ही अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। चन्द्रिका

के उत्तरार्ध का तीन-चौथाई भाग रामचन्द्र जी की दैनिक-चर्या—उनका उठना-बैठना, भोजन करना, सोना, जागना, कुल्ला करना आदि—रूपशोभा, ऐश्वर्य, स्त्रियों की जलक्रीड़ा, नखशिख्य और पङ्कजनुओं आदि के वर्णन में ही खप जाता है जिसमें सीता और राम के अपने समागम-सुख का कोई दर्शन नहीं होता। इन सब के वर्णनों में रम कर पाठक के लिए यह अनुमान करना कि अभी फलागम में देर है और कथा का कुछ हिस्सा बाकी है, बड़ा कठिन है। भ्रम तो यह होता है कि फलागम हो चुका और अब उसके उपलक्ष्य में कवि उत्सव मना रहा है। राम को भूल कर कवि अपने विलासों में मग्न हो गया है। राम जैसे मनुष्य ही नहीं हैं, उनके हृदय ही नहीं है, वे केवल यंत्रवन हैं जिनसे काम लेने की जरूरत कवि को कभी कभी अपनी उपमान कल्पना या राजस वासना के विनोद के लिए पड़ जाती है।

जिसे भारतीय परिभाषा में संचारी आदि कहते हैं उसे ही आजकल की बोली में अन्तर्जगन् कहा जाता है। अन्तर्जगन् के इस अभाव में स्थायीभाव का खयाल, और फलतः नेता और उसके आलंबन का भी खयाल, एक मज़ाक हो जाता है। फिर अन्तर्जगन् के अभाव से ही उद्दीपनरूपी बाह्यजगत् भी तिरोहित हो जाता है। रामचन्द्रिका में जो दो चार तरह के दृश्य, प्राकृतिक स्थल या परिस्थिति आदि आए हैं वे वस्तुतः मुख्य पात्रों के लिए उद्दीपन-रूप में नहीं बल्कि कवि की चमत्कार-कल्पना के ही उद्दीपन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अलंकरण-शक्तियुतन के अवसर केशवदास को

रूप या पदार्थों के वर्णन के समय मिलते हैं। ये वर्णन प्रायः चित्रण के रूप में नहीं हैं और न वे रूपों या पदार्थों के किसी व्यापक या व्यक्तिगत अभिप्राय को ही प्रकट करते हैं। केशवदास ने उनको केवल अपने उपमानों की कुशती के अखाड़े के रूप में अंगीकार किया है। पीछे आए हुए उदाहरण इस बात का प्रमाण है। वास्तव में, नायक की उद्देश्यहीनता के कारण रामचंद्रिका भी, कथा के रूप में, उद्देश्यहीन है। वह केवल एक उदाहरण ग्रंथ की भाँति है जिसमें केशवदास ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि वे कितने प्रकार के छंद बना सकते थे तथा अलंकारों अथवा अलंकार-संकरों में अपनी कल्पना कहाँ तक दौड़ा सकते थे।

उद्देश्यहीनता, अथवा, दूसरे शब्दों में, अन्तर्जगत और बाह्य-जगत के अभाव के कारण रामचंद्रिका की कथा में कहीं भी आगे बढ़ने की, अग्रसर होने की, सामर्थ्य नहीं दिवाई देनी। इसमें कार्य-व्यापार बिलकुल नहीं है। केशवदाम के लंबे-चौड़े वर्णनों के बाद जहाँ कहीं व्यापार दिखाने का अवसर आता है वहाँ वे एकदम बड़ी मफ़ाई से पत्ता काट जाते हैं। उदाहरण के लिए हम ग्रन्थ के प्रारंभिक भाग को ही देख सकते हैं। विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने दशरथ के पास जाते हैं। वहाँ पहुँचाते पहुँचाते केशव ने उन्तालीस छंदों में उन्हें अयोध्यापुरी और राजदरबार की सैर कराई है। इसके बाद चौदह छंदों में राजा, विश्वामित्र और वसिष्ठ का वार्तालाप है। फिर छै-सात छंदों में राम-लक्ष्मण तपोवन की शोभा देखते हैं। शोभा देख चुकने पर

जब रक्षा के हेतु बैठते हैं तो ताड़का आ जाती है जिसे वे स्त्री समझ कर नहीं मारना चाहते । पर ग़ैर, ऋषि के समझाने में राम उसे मारते हैं; और एक ही छंद में उसके साथ ही साथ, मारीच आदि अन्य दैत्यों को भी मार देते हैं, यद्यपि अन्य दैत्य उत्पान करने के लिए यज्ञ-भूमि में आए तक नहीं हैं । और वग, यह हुआ कि अगले ही छंद में दोनों भाई जनक के धनुष-यज्ञ की वृथा सुनने लगे । अयोध्याकांड के आरंभ में दशरथ ने डगडा किया कि राम को राज्य दे दूँ । इसके आगे के ही छंद में कैकेयी ने गूट निश्चय किया कि राम को वन में भेजगो और उमने चटपट राजा से अपने दो वर मांग लिए । तब तत्काल ही 'उठि चले विपिन कहें सुनत राम।' पर उठि चले के बाद भी राम 'विपिन नहीं' न जाकर अपनी माता को एक लंबा-चौड़ा उपदेश दे देते पहुँच जाते हैं और तदनन्तर क्रमशः सीता और लक्ष्मण को घर पर ही रहने की शिक्षा देते हैं । पर ता, राम-लक्ष्मण-संवाद सुनते ही सुनते ही एकएक दोख पड़ता है कि 'विपिन भारग राम विराजती सुगन्ध मुदरि मोदरि आजहीं।' इस बार ये सचगुच चले गए हैं ।

लगभग सर्वत्र ही इस प्रकार जब कभी किसी लंबे-चौड़े वर्णन या संवाद के बाद कथा कहने का मौका आता है तो केशव-दास जा व्यापार की एक मंजिष्ण सी सूचनामात्र देकर फ़ौरन अलंकारक्रीड़ा की किसी दृमरी रंगमथला में जा उतरते हैं । कथा उनकी दृष्टि में नितान्त गौण चीज़ है । प्रसंगों को जोड़ने के लिए वे सूचना से उतना ही काम लेते हैं जितना कि वस्तु-सार

(Synopsis) लिखने में संयोजक या विभाजक रेखाओं (hyphens और dashes) से लिया जाता है ।

व्यापार रूप में अन्तर्जगत् की कोई विशेष छाया रामचन्द्रिका में न होने के कारण केशवदास के पात्रों में चरित्र-चित्रण की किसी विभूति को पाने की भी आशा नहीं करनी चाहिए । बागी के रूप में संघर्षों में उनके पात्र अवश्य अपना कुछ परिचय देते हैं, परन्तु यह उनी हो देर का परिचय है जिनकी देर कि वे बातचीत करत हैं । उमर का नवोत्ता कभी कभी यह हाना है कि जब कोई पात्र किसी दूसरा जगद अगता उमी तरह परिचय देता है तो उनके शीनों स्थानों के परिचयों में कुछ फर्क पड़ जाता है । पहले तो राम बाद में सीता को विवर्णित करने मग्य अपने भाइयों को उस तरह डाँटते हैं माना वे उनके कोई अनि क्षुद्र नौकर हों या फिर जाना राम को सीता से ही आई द्वेष हो और वे उनके लिए किमा भी भी मित्राशिष न गुनना चाहते हों । भरत जन्म तर्क द्वारा उन्हें सीता की पवित्रता आदि की बात समझाते हैं तो रामचन्द्रजी उत्तर देते हैं "हाँ भाई, ओ कुछ तुम कहत हो वह बिलकुल सच है; परन्तु मेरी तो उस समय कुछ ऐसी ही डच्छा है (अर्थात् सीता को निकाल देने की) ।" शत्रुघ्न के साथ तो वे इतनी भी भजमंसाहत से पेश नहीं आते । चुप करने के लिए सीधे-सीधे कह देते हैं—

तुम बालक हो बहुधा सब में, प्रति-उत्तर देहु न फेरि हमें ।

जु कहै हम बात सो जाय करो, मन मध्य न और विचार धरो ॥

शत्रुघ्न के उपरान्त लक्ष्मण को तो ज्ञान खोलने तक की

आज्ञा नहीं दी गई। भरत और शत्रुघ्न के चले जाने पर लक्ष्मण जी कहीं उन्हीं की तरह राजा को समझाने की धृष्टता न करने लगे, इस आशंका से उन्हें तत्काल ही आदेश, और आदेशभंग की दशा में दंडव्यवस्था, दोनों, सुना दिए गए—

संतति ले अब सत्वर जैये, गखि महावन में फिर ऐये ।

लक्ष्मण जो फिर उत्तर देहो, शासनभंग को पातक पैहो ॥

क्या ये वही राम है जिन्होंने लक्ष्मण के लिए विलाप किया था अथवा जिन्होंने कुत्ते तक की फ़रियाद सुन कर उसी के द्वारा ब्राह्मण को दंड दिलाया था। संभव है शत्रुघ्न के एक कटु व्यंग्य के कारण वे इस समय राजप्रभुत्व से काम ले रहे हों। परन्तु उनके राजशक्ति के ज्ञान का केवल यही एक अवसर देखने में आता है, और वह भी सीता-निर्वासन के मामले में, जिसके लिए उनके पास इसके सिवा और कोई दलील नहीं है कि 'मेरो कछू अबहि इच्छ यहै'।

चरित्र-चित्रण के सिलसिले में केशव के संवादों का भी ज़िक्र आगया है। इसमें संदेह नहीं कि कौतूहल बढ़ाने, सजीवता प्रदान करने तथा चरित्र-चित्रण और व्यापार को अग्रसर करने में संवादों अथवा कथनोपकथन का विशेष उपयोग रहता है, परन्तु राम-चन्द्रिका में व्यापार और चरित्र-चित्रण का अभाव होने के कारण उसके संवाद अपनी परिमाण-सीमा से बहुत आगे बढ़ गए हैं तथा, वर्णनों की भाँति, वे ग्रंथ के भीतर उसके एक प्रकार के स्वतंत्र से अंग मालूम होते हैं। सीता-स्वयंवर के समय रावण-वाण-विवाद

बिलकुल फ़ालतू, अप्रासंगिक है। इसी तरह रावण-अंगद-संवाद भी, मालूम होता है, केवल विवाद दिखाने के लिए ही रक्खा गया है।

केशवदास अपने संवादों को व्यर्थ ही बढ़ा देते हैं। रावण और वाण का संवाद छब्बीस छंदों में है और निरुद्देश्य है। दोनों पात्र निरर्थक ही आपस में झगड़ते हैं, केवल एक दूसरे को अपने से हीन बताने के लिए; परन्तु उस समय की परिस्थिति पर या संपूर्ण कथा की किसी भी परिस्थिति पर उनकी हीनता अहीनता के इस प्रख्यापन का कोई असर नहीं पड़ता। वाण का तो वस्तुतः कथा में भी कोई संबंध नहीं है। फिर, हम यह भी देखते हैं कि किसी विवाद को बहुत अधिक बढ़ा कर केशव उसका सफल, स्वाभाविक, अवसान नहीं करा पाते। छब्बीस छंदों तक वाग्युद्ध में रत रह कर सत्ताईसवें छंद में रावण कहना है कि अब तो 'जब लौं न सुनों अपने जन को, अति आरत शब्द हते तन को' तब तक यहाँ से टलूँगा नहीं। एक तरफ़ उमका तो यह कहना हुआ और दूसरी तरफ़, अठाईसवें छंद में, 'आरत शब्द अकाश पुकार्यो', जिसे सुन कर रावण 'छोड़ि स्वयंवर जान भयो तब' मानों कहीं बैठा हुआ कोई राजस अपने मालिह में सिंघाया जाकर टेलिफ़ोन द्वारा इन लोगों की बात-चीत सुन रहा था और ऐन मौका देख कर वह चिल्ला पड़ा। रावण-अंगद-विवाद का भी अन्त अकस्मात् ही हो जाता है। रावण के साथ बहुत देर तक घट-बढ़ बातें करते रहने के पश्चात् बिना किसी पूर्वाभास के ही 'अंगद रावण को मुकुट ले करि उड़ो

सुजान ।' इस तरह के विवादपूर्ण सवालों में हम प्रायः कहावन में आई हुई वनियों की लड़ाई का सा स्वरूप देखते हैं। वाग और रावण दोनों घंटा भर तक एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हुए भी बराबर बगले भाँकते से ही नजर आते हैं। धनुष-भंग के बाद परशुराम के क्रोध में परशुराम की भी कुछ ऐसी ही बगलें भाँकने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

केशवदास की कविता के ये सब दोष, जैसा कह आए हैं, उनकी पांडित्य-प्रदर्शन लालसा के ही कारण उत्पन्न हुए हैं, जिसमें उनका ध्यान वान की या वस्तु की केवल कृत्रिम सुन्दरता की ओर ही जा पाया। यह दरबारी जीवन, चतुवाद तथा ऊपरी लड़क-भड़क के वातावरण का अवश्यभावी प्रभाव था। चातुवाद में स्वयं गिर्या-जना हो सकती है परन्तु चातुवाद द्वारा उतर वानों के कथन में वह असंभवप्राय है। बीरवल को मुनाए गए लड़ों में अशुक्ति की हद हो जाने पर भी उनका कोई अर्थ निकलना है, उनका कुछ असर भी होता है। परन्तु यदि बीरवल को, चाहे कितनी ही मृदु-सूरती के साथ, उल्लू की उपमा दी जाती तो वे प्रसन्न न होते, केशवदास ऐसी उपमा देते भी नहीं, क्योंकि उस समय उन्हें अपने शब्दों की सार्थकता पर ध्यान रखना आवश्यक था। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जीवन को वास्तविक परिस्थितियों में केशवदास धोलेते हैं वहाँ पर निरर्थक नहीं हो सकते, मन के साथ कुछ उनकी बुद्धि और कुछ उनकी हृदयवृत्ति भी काम करती है।

दरबारी जीवन की नकली एकरूपता में उनकी अपनी हृदय-

वृत्ति की क्रीड़ा की परिस्थितियाँ उन्हें कम मिलनी होंगी, और जो मिलती होंगी वे अल्पकालिक होती होंगी। इस प्रकार का वातावरण वस्तुतः स्फुटोक्तियों के अधिक अनुकूल है जिसमें मिथ्या प्रयास का अवसर, काफी रहते हुए भी प्रबंध रचना की अपेक्षा कम ही रहना है। प्रबन्धरचना दीर्घकालिक वस्तु है और केशवदास के मानसिक अभ्यास को इतनी मोहलत कहाँ रही होगी कि वे कथाप्रसंगों के पारम्परिक संबंधों तथा उनके उद्देश्यों की ओर ध्यान देने अथवा उन्हें याद रखने की चेष्टा कर सके। अतः बहुत से दृष्टान्त जो एक कथा के भीतर बहुत बुरे सामान्य होते हैं, संभव हैं, फुटकर वाक्य में इतने अधिक स्पष्ट होनेवाले न हों, क्योंकि फुटकर उक्ति में उनके साथ पात्र, प्रसंग तथा वक्ता श्रोता के औचित्यान्वित्व का आवश्यकताएँ कम या, कभी कभी नहीं, रहती हैं। उदाहरण के लिए, उल्लूवाली उक्ति में से प्रसंग उड़ा कर राम, हनुमान और सीता के व्यक्तित्व को हम भूल जाए तो वह किन्ना ऐसे मन्त्रेणवृत्ति नायक का भी वर्णन भ्रमकी जा सकती है जिसके प्रति कवि की हमदर्दी के साथ साथ, शायद उपहाम करने की भी रुचि रही हो। इसके अनिश्चित दूसरी बात यह है कि फुटकर उक्ति साधारणतः क्षणिक प्रभाव की चीज होती है और उससे उत्पन्न हुई ग्लानि बाद की किसी ज़रा सी भी अच्छी उक्ति से दूर हो सकती है। केशवदास की जो थोड़ी-बहुत फुटकर रचनाएँ मिलनी हैं वे उनकी ग्रन्थ-रचनाओं से सामान्यतः अच्छी हैं। रामचन्द्रिका के भी अलग अलग टुकड़े कर यदि हम उन्हें प्रसंग

से विहीन करके फुटकर रचनाओं के रूप में ही पढ़ेंगे तो कदाचित् उनके दृष्टांतों की गंभीरता भी कुछ कमी हो जायगी।

एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य में हृदय का कुछ न कुछ दृश्य अंश अवश्य विद्यमान रहता है भले ही ऊपर की कृत्रिमताओं और पाबंदियों ने उसे कितना भी अन्तर्निहीन क्यों न कर रक्खा हो। केशवदास का हृदय भी हमको कभी कभी दिखाई दे ही जाता है, और बड़े सुन्दर रूप में। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले चले। उस समय के राजा दशरथ के अनुभव बड़े ही हृदयस्पर्शी हैं—

राम चलत नृप के युगलौचन, बारि भरित भये बारिद रोचन ।

पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं, केशव उठि गये भीतर भौनहिं ।

लव कुश द्वारा रघुवंशी सेनाओं के घोर संहार का कोई उपाय न बन पड़ते देख राम के मन में विवशता-भिन्नित ग्लानि, दैन्य और विष्मय के सम्मिलित भावों की सूक्ष्म व्यंजना उनके इन थोड़े से शब्दों में कितनी खूबमूरती के साथ की गई है—

कोउ दुवै मुनिसुत काकपक्षयुत मुनियत है तिन मारे ।

यहि जगतजाल के करम काल के कुटिल भयानक भारे ।

सीता-निर्वाचन के खेद से हर किमी का दिल पका हुआ है। लवकुश के सामने किसी की भी नहीं चलनी। भरत हनुमान् जी से कहते हैं कि तुमने पहले तो इतना बड़ा समुद्र लाँघा था, अब इस युद्ध की नदी को क्यों नहीं लाँघते। तब हनुमान् उत्तर देते हैं—

सीतापद सनमुख हुते गयो सिन्धु के पार ।

विमुख भये क्यों जाहुँ तरि सुनो भरत यहि बार ॥

ऐसे स्थलों में हृदय की पूर्ण वृत्ति का सहयोग होने के कारण मनोवैज्ञानिक तथ्य भी पूर्ण ही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्वरूप धनुषभंग करनेवाले राम की शोभा को देखकर परशुराम की नीचे दी हुई भावगुंथला तथा वितर्कपद्धति में कितनी सुंदरता से दिखाया गया है—

अमल सजल घनस्थाम बपु केशोदास,

चंद्र हूँ ते चारु मुख सुपमा को ग्राम है ।

कोमल कमलदल दीरघ विलोचननि,

सोदर समान रूप न्यारो न्यारो नाम है ॥

बालक बिलोकियत पूरण पुरुष गुन

मेरो मन मोहियत ऐसो रूप धाम है ।

वेर जिय मानि बामदेव को धनुष तोरो,

जानत हों बीस बिसे राम भेस काम है ॥

इन उदाहरणों से यह भी पता लगेगा कि इनमें अलंकार ठोकने का कोई विशेष प्रयास नहीं। ऐसे स्थलों पर अधिकांश उक्तियाँ तो अनलंकृत ही हैं और जहाँ अलंकार दिखाई भी देता है वहाँ वह स्वाभाविक भावप्रवाह में ही आया हुआ मालूम होता है।

परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि इरादा करके लाए गए सब ही अलंकार-प्रयोग खराब हैं। जहाँ अपने कल्पनास्थल के मूल्य को समझ कर कवि ने कल्पना की है वहाँ उनके अलंकार भी

भाव-प्रेरक तथा दृश्य चित्र को उपस्थित करने वाले हुए हैं। वसंत ऋतु में बोलने वाले पक्षियों को अपनी बोली द्वारा युद्ध का आह्वान करने वाले वसंतसेना के योद्धा बनाना उचित ही हुआ है, यथा—

फूरी लवंग लवली लतिका विलोल,
भूले जहाँ भ्रमर विभ्रम मत्त डाल।
बोलै सुहंस शुक कोकिल केकिराज,
मानों वसंत भट बोलत युद्ध काज ॥

कहीं कहीं उपमान गुगुव्यंजक भी हुए हैं, यथा—

अमल कपोले आरसी, बाहुइ चंपकमार।

अवलोकन विलोक्रिये, मृगमदमय घनसार ॥

नीचे के उदाहरण में उत्प्रेक्षाओं द्वारा दृश्यचित्र प्रभावोत्पादक हो गया है—

राघव की चतुरंग चमू चपि धरि उठो जलहू थल छाई।

मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकाश न माई ॥

मेदि के पंच प्रभूत किधौ विधि रेणुमयी नवगीति चलाई।

दुःख निवेदन को भुव भार को भूमि किधौ सुरलोक सिधवाई ॥

क्रियापृष्ठा दृश्यचित्रण के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। एक युद्ध का वर्णन है, दूसरा स्त्रियों के जलविहार का—

(क) अति रोष रमे कुश केशव आरघुनायक सों रणरीति रचैं।

तेहि बार न बार भई बहु बारन खर्ग हने, न गिनैं चिरचैं ॥

तहँ कुंभ फटें गजमोति कटै ते चले बाह ओणित रोचि रचैं।

परिपूरन पूर पनारन ते जनु पाँक कपूरन की किरचैं ॥

(ख) एक दमयंती ऐसी हरै हँसि हंस वंश,

एक हंसिनी सी बिसहार हियो रोहियो ।

भूषण गिरत एकै लेती बूढ़ि बीचि बीचि.

मीनगति लीन होन उपमान टोहियो ॥

एके मत केके कंठ लागि लागि बूढ़ि जात,

जलदेवता सी दिवि देवता विमोहियो ।

केशोदास आसपास भँवर भँवत जल,

केलि में जलजमुखी जलज सी सोहियो ॥

कही कही विशेष भावोत्पादन के लिए प्रयुक्त न होकर भी कल्पना मनोहारी और चमत्कार-वर्धक है, यथा—

(क) फूलन के विविध हार धारलन ओरमत उदार ।

बिच बिच मणिश्याम हार, उपमा शुरु भाषी ॥

जाँथो सब जगत जानि, तुमसों हिय हार मानि ।

मनहु मदन निज धनु ते गुन उतारि राखी ॥

(ख) राजभौन आस पास दीपवृक्ष के विलास,

जगतज्योति यौवन जनु ज्योतिवन्त आये ॥

प्रभाव का वर्णन नीचे के छंद में बड़ा अच्छा है, जिसमें केशवदास का थोड़े से हँसने का भी मन कर आया है । यह प्रभाव परशुराम के आने के बाद का है—

मत्त दंति अमत्त ह्वे गये देखि देखि न गज्जहीं ।

ठौर ठौर मुदेश केशव दुंदुभी नहिं बज्जहीं ॥

डारि डारि हथ्यार सूरज जाँव लै लै मज्जहीं ।

काटि कै तनग्रान एक हि नारि भेषन सज्जहीं ॥

(यद्यपि प्रसंग के औचित्य को देखते हुए राम की फौज का यह वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता ।)

केशवदास के संवाद, जो कथाप्रसंग में प्रायः उखड़े-उखड़े से प्रतीत होते हैं, अपने स्वतंत्र रूप में सचमुच बड़े मनोरंजक और कौतूहल-वर्धक हैं । रावण और वाण का 'बगलें भाँकना' भी स्वतंत्र संवाद में मनोविनोद और चरित्राध्ययन की एक चीज़ है । केशव के संवादों में नाटकीय प्रभाव पूर्ण रूप में मौजूद रहता है । उनमें चटपटापन, चुलबुलापन, व्यंग्य और वाग्वेदगध्य के समस्त गुण एक साथ दिखाई देते हैं । सर्वश्रेष्ठ संवाद वे हैं जो राम के वीरों और लव-कुश के बीच में होते हैं । लव-कुश के वाक्य प्रायः छोटे छोटे, तथ्यदर्शी और कार्यक्षिप्रता के प्रेरक हैं । वे चरित्रचित्रण में भी सहायक होते हैं, उनके द्वारा लव-कुश का बड़ा अच्छा चरित्र-चित्रण होता है; लवकुश पात्र को देख कर उसके उपयुक्त ही शब्द बोलते हैं और बहुत सी व्यर्थ बातें न कर तत्काल कार्य में संलग्न हो जाते हैं । रामचंद्रिका में यदि कहीं कथा दीखती है, कहीं भावुकता सरसता कौतूहल या प्रवाह दिखाई देता है, कहीं स्वाभाविक वस्तुवर्णन और चरित्रचित्रण है, तो वह लव-कुश-युद्ध में । रामचंद्रिका का सब से श्रेष्ठ अंश इस युद्ध का वर्णन ही है । उदाहरण देने के लिए लगभग उस सारे अंश को ही उद्धृत करने की आवश्यकता पड़े, जिसके लिए यहाँ स्थान की कमी है, उसे रामचन्द्रिका में ही पढ़ कर देखना चाहिए ।

केशवदास की विशेष सामर्थ्य राजवैभव के वर्णनों में देखी

जानी है। राजदरबारों तथा बड़े-बड़े राजकीय पुरुषों के संपर्क में रहने के कारण राजमर्यादा राजप्रभुता तथा राजनीति का ज्ञान उनको अवश्य अच्छा रहा होगा। रावण के चरित्र में राजनीतिज्ञता के दो स्थानों में दर्शन होते हैं। वाण के साथ अपनी हुज्जतबाज़ी के समय शिवधनुष को उठाने में असमर्थ होकर वह वाण से कहता है कि धनुष तो पुराना और जीर्ण है, मैंने अन्दाज़ा कर लिया और मैं पल भर में इसे उठा लूँगा; मगर ज़रा तुम भी आज्ञामांश कर लो—

धनु भति पुरान लंकेश जानि, यह बात बाण सों कही आनि ।

हैं पलक माहिं लैहों चढ़ाय, कछु तुमहूँ तो देखो उठाय ॥

उसकी राजनीतिज्ञता का दूसरा अवसर वहाँ है जहाँ वह दूत अंगद को राम की तरफ़ से फोड़ने की कोशिश करता है। अंगद से वह कहना है—

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे ।

आठहु आठ दिसा बलि दै अपनो पदु ले पितु जा लगि मारे ॥

तोसे सपूतहि जाय कै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे ।

अंगद संग लै मेरो सबै दल आजहिं क्यों न हतै बपुमारे ॥

जब वह संधि की शर्तें पेश करता है तो भी दूरदेशी में अंगद को अपनी तरफ़ मिलाने की चेष्टा में अपनी नीतिकुशलता को दृढ़ रखता है। उसकी शर्तें हैं—

देहि अंगद राज तोकहँ मारि बानरराज को ।

बाँधि देहि बिभीषणै अरु फोरि सेतुसमाज को ॥

पूछ जारहिं अक्षरिपु की अरु पायँ लागहि रुद्र के ।

सीय को तब देहुँ रामहि पार जायँ समुद्र के ॥

राजप्रभुता की मर्यादा का ध्यान केशव को कितना था इसका अनुमान नीचे के उदाहरण से किया जा सकता है । रावण के दरबार में अंगद के पहुँचने पर प्रतीहार प्रभाव के लिए ब्रह्मा आदि को इस प्रकार डाँटता है --

पद्मै बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे ।

कुबेर बेर के कही न यक्ष भीर मंडि रे ॥

दिनेश जाय दूर बैलि नारदादि संगही ।

न बोलु चंद्र मंदबुद्धि इन्द्र की सभा नही ॥

इस 'इंद्र की सभा नहीं' पर अवश्य गौर करना चाहिए । ओजपूर्ण वर्गनों के दो-एक उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं । सब से ज्यादा वे लव-कुशकांड में देखे जा सकते हैं ।

केशव के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा, संदेह और श्लेष हैं । इन तीनों के उदाहरण आगे हैं । हमने केशव के उचित तथा अनुचित दोनों प्रकार के अलंकार-प्रयोग देख लिए हैं । एक अन्य अलंकार परिसंख्या का इन्होंने, बहुत तो नहीं पर, अच्छा उपयोग किया है, यद्यपि वैसे तो इन्होंने अपने परिचित सब ही अलंकारों से काम लिया है । परिसंख्या का एक उदाहरण दिया जाता है—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय ।

होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय ॥

दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में ।

श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ॥

केवश की भाषा बुन्देलग्वंडी मिली हुई ब्रजभाषा है। कहीं-कहीं उसमें संस्कृत के विभक्त्यादियुक्त प्रयोग भी आगए हैं, जैसे 'लीलया' 'चलंति' 'भजंति' आदि। बीच बीच में दो एक जगह संस्कृत के श्लोक भी बना कर रख दिए हैं तथा एकाध स्थान पर हिन्दी क्रिया के साथ शेष छंद में संस्कृत-नियमानुशासित पदावली का प्रयोग कर दिया है। व्याकरण का बहुत जगह उचित पालन नहीं किया गया है, जैसे—'करै साधना एरु परलोक ही कौ,' अथवा 'राज देहु जो वाकी तिया कौ।' परन्तु इन बातों को छोड़कर, केशव की भाषा में अधिकतर माधुर्य और प्रसाद गुणों का बड़ा अच्छा सम्मिश्रण देखने को मिलता है और कहीं-कहीं नाद-सौंदर्य भी बड़ा मनोहर है। नीचे के उद्धरण में इन सब गुणों का उदाहरण मिलेगा—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर ।

मंजुल वंजुल लकुच वकुल कुल केर नारियर ।

एला ललित लवंग संग पुंगाफल सोहै ।

सारी शुक्कुल कलित चित्त कोकिल अति मोहै ॥

शुभ राजहंस कलहस कुल, नाचत मत्त गयूर-गन ।

अति प्रफुलित फलित सदा रहे, केशवदास विचित्र वन ॥

हम देखते हैं कि केशवदास में कवित्व की दोनों प्रकार की सामर्थ्य थी—भावात्मक भी और व्याख्यात्मक भी। परन्तु केशवदास का, या हिन्दी साहित्य का, दुर्भाग्य था कि उनको परि-

स्थितियाँ विपरीत मिलीं, जिनके कारण उनके यथार्थ गुण तो दब गये और कृत्रिम गुणाभासों की वृद्धि हो गई। उनके प्रच्छन्न गुणों को देखते हुए, उनकी 'महाकवि' की पदवी का अनुमोदन किया जा सकता है तथा, उनके रचना वैविध्य को देखते हुए, शायद 'आचार्य-त्वं' का भी। परन्तु यदि सब बानों पर एक साथ विचार किया जायगा तो हिन्दी की लंबी कवि-सूची में उन्हें शायद मध्यम श्रेणी का ही कवि गिना जा सकेगा। उनकी पांडित्य-प्रदर्शन-लालसा के कारण उनकी रचनाओं में जो अति-क्तिष्टता आ गई है उससे उन्हें 'क्लिष्ट कविता का प्रेत' कहा जाता है। किसी ने यह भी कहा है कि यदि किसी कवि को भेट न देना चाहो तो उससे केशव की कविता का अर्थ पूछो—

“कवि को देन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई।”

कदाचित् इसी कारण केशव की कविता के अध्ययन का भी समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि केशव को अच्छी तरह पढ़ लेने के बाद पुरानी कविता में प्रवेश करने का मार्ग बहुत कुछ सुगम हो सकता है।

कविवर बिहारीलाल

बिहारीलाल जी का जन्म संवत् १६६० के आसपास ग्वालियर में हुआ था। ये माथुर ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। परंतु मतान्तर के अनुसार ये केशवदास के शिष्य बताए जाते हैं। इनका बचपन बुंदेलखंड में व्यतीत हुआ था और यौवन का समय ससुराल, मथुरा, में। इसके विषय में इनका दोहा है—

जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुँदेले बाल।

तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल ॥

इनकी मृत्यु १७१६ संवत् के बाद, संभवतः १७२० में हुई।

ये जयपुर के राजा जयसिंह के कवि थे। जिस प्रसिद्ध दोहे से इन्होंने जयपुर दरवार में प्रवेश हासिल किया वह यह है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।

अली कली ही सों बिधो, आगे कौन हवाल ॥

उन दिनों महाराज जयसिंह अपनी अप्राप्तयौवना नई रानी में इतने लीन रहते थे कि महल के बाहर बिलकुल ही नहीं निकलते थे। बिहारीलाल के दोहे ने उनकी आँखें खोल दीं और महाराज दोहे पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बिहारीलाल को अपना राजकवि बना लिया। सुना है कि ये जोधपुर और बूंदी भी गए थे; परंतु वहाँ ठहरे नहीं।

इनका एकमात्र ग्रंथ इनकी सतसई है जिसमें ७१६ दोहे हैं। केवल इन ७१६ दोहों की रचना करके ही बिहारीलाल ने हिंदी साहित्य में वह स्थान प्राप्त किया है जो तुलसीदास जी और सूरदास जी को छोड़ कर, ग्यानि की दृष्टि से, शायद और तमाम कवियों से ऊँचा है। इस ग्रंथ ने जनता के साहित्यिक कौतूहल को इतना उत्तेजित किया कि इसकी तीस-चालीस टीकाएँ हो गईं। अभी, पंद्रह-बीस वर्ष पहले, सतसई को लेकर हिंदी के कुछ प्रमुख विद्वानों में काफी बहसा-बहसी हुई थी जो कई वर्षों तक चली थी। इस रचना की उत्कृष्टता के बारे में निम्नलिखित दोहा खूब प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।

देखत के छोटे लगैं, घाव करें गंभीर ॥

सतसई का प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है, अतः यह मुक्तक काव्य है। इसमें शृंगार-रस प्रधान है, यद्यपि कुछ दोहे अन्य विषयों पर भी हैं। इनकी शृंगारी मनोवृत्ति के प्रमाण में दो दाँहे उद्धृत किए जा सकते हैं—

(क) जौ न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकुति-मुँह दीन ।

जौ लहिये सँग सजन तौ, धरक नरकहू को न ॥

(ख) ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय ।

जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय ॥

शृंगार के दोनों रूपों, संयोग और विरह, को लेकर बिहारी ने बड़े चुभते हुए दोहे कहे हैं। वे हृदय पर तत्काल और बड़ा गहरा

असर करते हैं। उनमें ध्वनि या व्यंग्य बहुत है, जिससे पाठक का कल्पना-कौतूहल एक साथ जागरित होकर, तृप्ति द्वारा आनंद में अपना अवसान करता है। काव्य में आनंद का स्वरूप कथन की रसात्मकता है जो विभाव अनुभाव आदि साधनों पर निर्भर रहती है। बिहारीलाल के दोहे इन्हीं साधन-रूप परिस्थितियों के वर्णन द्वारा रसानुभव कराते हैं। कहीं कहीं, बल्कि अधिकतर, ये परिस्थितियाँ स्वयं व्यंग्य होकर रस अथवा भाव की व्यंजना करती हैं। इस प्रकार कभी अनुभावों अथवा सात्विक चेष्टाओं द्वारा प्रसंग आदि की व्यंजना करके भावध्वनि कराई गई है, कभी प्रसंग द्वारा संचारियों की ध्वनि देकर भावभूमि तक पहुँचाया गया है, और कभी चित्र अथवा शोभा आदि का वर्णन करके यह उद्देश्य सिद्ध किया गया है। अनुभावों और सात्विक भावों के चित्रण में प्रायः स्वभावोक्ति का विलास देखने में आता है; अन्यत्र श्लेष, अन्योक्ति, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, असंगति आदि अलंकार माध्यम बनाए हैं। अनुभावों तथा सात्विक भावों के चित्रण में मनोविज्ञान का गौरव देखने में आता है जो बिहारीलाल की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता देता है। प्रसंग के संकेत द्वारा औत्सुक्य की ध्वनि देकर प्रेमातिशय की व्यंजना नीचे के दोहे में अच्छी देखने को मिलती है, जिसमें मुहावरें ने भी अपना ठीक काम किया है—

जदपि तेज रौहाळ बल, पलकौ लगी न बार ।

तौ गँडो घर को भयो, पैंडो कोस हजार ॥

प्रसंग के साथ सात्त्विक के द्वारा संचारी का व्यंग्य इस उदाहरण में देखा जा सकता है—

नेक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।

छुटी जात नह दी छिनकु, महदी सूखन देहु ॥

वस्तु द्वारा वस्तु तथा भाव की व्यंजना एवं वस्तु द्वारा विभावरूप रूपातिशय और तत्संबन्धी भाव की व्यंजना के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) मोरचंद्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान ।

लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा मान ॥

(ख) लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।

भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

इन उदाहरणों से हमे मालूम होगा कि व्यंजना की कई-कई सरणियों में एक साथ चल कर कवि हमको अन्तिम व्यंग्य, भाव-भूमि, पर पहुँचाता है । परन्तु यह बात सर्वत्र ही नहीं है । कभी कभी अनुभावों अथवा सात्विकों से हम एक दम ही भाव को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे—

भौंहनि त्रासति, मुख नटति, अँखिन सों लपटाति ।

ऐचि छुड़ावति कर इंची, आगे आवति जाति ॥

इस उदाहरण में स्वभावोक्ति द्वारा जो सात्विकी चेष्टाओं का चित्र उपस्थित किया गया है उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी कितना मनोहर हुआ है । जिस मानसिक भाव का यहाँ पर लक्ष्य है उसमें 'त्रासति' 'नटति' आदि के कारण जहाँ एक ओर

व्यंग्य में स्पष्टता आगई है वहीं पाठक की प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रिया को एक प्रकार की द्रुतगति सी भी प्राप्त होती है जो उस क्रिया में व्याप्तता लाकर पाठक को तत्काल भावमग्न करने में सहायक होती है। ऊपर दिए गए उदाहरणों में व्यंग्य भाव की प्राप्ति सरगियों की भी व्यंजना कर के ही कराई गई है। इस पद्धति में प्रायः अध्याहार क्रिया द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का आश्रय लिया जाता है, जैसे ऊपर के 'लिखन बैठि' वाले उदाहरण में। बिहारी ने जहाँ जहाँ ऐसा किया है वहाँ अधिकतर वस्तुवर्णन स्वभावोक्ति, अन्योक्ति अथवा काकु के माध्यम से काम लिया है। काकु का प्रयोग कभी कभी विरोधाभास को लेकर भी किया है, जिसकी पद्धति लक्षणा की पद्धति है। लक्षणा की पद्धति अतिशयोक्ति में बहुत अधिक देखने में आती है। लक्षणा द्वारा प्राप्य व्यंग्य के दो एक उदाहरण नीचे द्रष्टव्य है—

रहौ गुही बेनी लखे गुहिबे के त्योंनार ।

लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार ॥

अलि इन लोयन को कट्टू, उपजी बड़ी बलाय ।

नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥

पलनि प्रगटि बरुनीनि बदि, नहि कपोल ठहरायँ ।

असुर्वाँ परि छतियाँ छनक, छनछनाय छपि जायँ ॥

जहाँ रूप, शोभा ही साध्य है (विभावादि के रूप में साधन के रूप में नहीं) वहाँ भी लक्षणा की पद्धति ही विशेषतः देखने में आती है और अतिशयोक्ति अथवा उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों को माध्यम बनाया गया है, जैसे—

भूषनभार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ।
 सूधे पायँ न धर परत, सोभा ही के भार ॥
 ललित स्याम लीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून ।
 मधु छाज्यो मधुकर परयो, मनौ गुलाब प्रसून ॥
 भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सके सुन बैन ।
 अंग ओष आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥
 छय्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचल चोर ।
 मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥

परन्तु अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का प्रयोग विरहावस्था के वर्णन में बहुत अधिक हुआ है। ये सब प्रयोग लाक्षणिक हैं। परंतु कहीं अत्युक्ति की क्रिया को इतना ज्यादा बढ़ा दिया गया है कि लक्षणा भी अपने काव्य के उद्देश्य में असफल सी हो जाती है। नीचे की उपमा में जो अत्युक्ति की गई है उससे अर्थबोध या काव्य का सौंदर्य ग्रहण करने में सहायता नहीं मिलती—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किये नीठि ठहराइ ।

सूझम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखा नहिं जाइ ॥

परंतु अन्यथा—करके मीडे कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हलाइ ।

सदा समीपिन सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाइ ॥

वस्तुतः तो विरह-वर्णन में भी जहाँ व्यंजना से ही काम लिया गया है वहाँ उक्ति अधिक मनोहर हुई है—

ललन चलन सुनि पलनुमैं, अँसुवा झलके भाइ ।

भई लखाइ न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाइ ॥

इसका कारण यही है कि व्यंजना-पद्धति में किन्हीं विशेष मानसिक अथवा कायिक अवस्थाओं का एक चित्रण सा उपस्थित होकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा पाठक की सहानुभूति को आकर्षित करके भाव-सान्निध्य को अधिक सरल तथा उपभोग्य बना देता है। लक्षणा में पाठक की उपपत्ति पहले विपरीत मार्ग का अनुसरण करने के बाद कथन के लक्ष्य को प्राप्त होती है। वाच्य का निरस्कार उसकी पहली शर्त है। वैसे काम तो लक्षणा से सब ही जगह लिया जाता है—विशेषतः अलंकारों में—परन्तु इसका बढ़िया और सरल उपयोग हँसी-मज़ाक, व्यंग्य, उपालंभ आदि की रचनाओं में शायद ज़्यादा अच्छा होता है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' की अधिकांश उक्तियों से इसका अंदाज़ा किया जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं है कि 'भ्रमरगीत' के किसी पद की सारी पद्धति ही लक्षणा की है; क्योंकि लक्षणा तो हमेशा साधनमात्र होती है। व्यंग्य भाव अथवा अवस्था का अधिक चुभना हुआ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रारंभिक सरणियों में ही इसका कार्य होता है। लक्षणा का साधनरूप में उपयोग करना ही ठीक है, परन्तु उसे घसीट कर साध्य के नज़दीक तक ले जाने से काम खराब होता है। इसका उदाहरण "मूछम कटि परब्रह्म लौं" में हम देख सकते हैं। उपालंभ आदि के ढंग की उक्तियों में बिहारी ने कहीं कहीं लक्षणा से अच्छा काम लिया है, जैसे—

मोहिं तुम्हें बाढी बहस, को जीनै जदुराज ।

अपने अपने बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज ॥

बिहारी की विवेचना में इस प्रश्न को उठाने की आवश्यकता इसलिए हुई कि बिहारी के दोहों में जो संयोगसंबंधी और वियोग-संबंधी चित्र हैं वे प्राचीन शास्त्रीय नायिका-भेद तथा उसके उप-विभागों के ढंग पर हैं। प्राचीन समय के शास्त्रकारों में ध्वनि और रस को लेकर विवाद हुआ था और ध्वनिमार्गियों ने ध्वनि या व्यंग्य को रस की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी थी, क्योंकि उनके अनुसार रसोत्पत्ति भी ध्वनि द्वारा ही हो सकती है। फिर यदि रस ही काव्य का चरम लक्ष्य है और वह अनुभाव, विभाव आदि पर निर्भर है तो हम उन छोटी-छोटी स्फुट कविताओं के बारे में क्या कहेंगे जिनमें आनन्द देने की सामर्थ्य है। ध्वनिसंप्रदाय वालों ने रस को अस्वीकार नहीं किया है; परन्तु उन्होंने उसे ध्वन्य बतला कर इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि स्फुट काव्य में भी रसांगों की व्यंजना द्वारा रस उत्पन्न किया जा सकता है। तर्क की दृष्टि से बहुत अंश तक ध्वनिमार्ग वालों का यह कहना ठीक भी है।

बिहारी ने प्राचीन नायिकाभेद के आधार पर ध्वनिसंबंधी उपर्युक्त सिद्धान्त का व्यवहार किया है। उनका साध्य भाव हमेशा व्यंग्य है। साधन में कहीं लक्षणा का और कहीं व्यंजना का उपयोग हुआ है, और बिहारी को अपने कर्म में बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। दोहे जैसे छोटे छंद में एक साथ कितनी कितनी चीजों की उनके लक्ष्यक्रम से अथवा अलक्ष्यक्रम से व्यंजना कर देना असाधारण कौशल का काम है। ऊपर के दोहों में व्यंग्यक्रम को कुछ स्थूल विश्लेषण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जा चुका है।

जो विश्लेषण उदाहरण के लिए ऊपर किया गया है वह एकांत निर्विवाद हो, सो बात नहीं है। उसका उद्देश्य विश्लेषण का रूप दिखाने का है। एक छोटे से दोहे में जब बहुत कुछ भरा जाएगा तो स्वाभाविक ही है कि उसमें हरेक बात अति सूक्ष्म संकेतों के रूप में ही कही जाएगी। ऐसी अवस्था में इन संकेतों का, कभी कभी क्या, अधिकतर अस्पष्ट रह जाना भी स्वाभाविक ही है। अतः भिन्न-भिन्न पाठक उन संकेतों को भिन्न-भिन्न ढंग से ग्रहण करें तो आश्चर्य नहीं। बिहारी-सतसई की इतनी अधिक टीकाएँ होने का एक यह भी कारण है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

दग उरक्षत दूयत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।

परति गाँठ दुरजन हिये दर्ई नई यह रीति ॥

इस दोहे में प्रसंग की कमी है। सब से आसान बात तो यह है कि इसे कवि का ही कथन मान लिया जाय। उस दशा में यह लौकिक अनुभव की एक चमत्कारोक्ति भर ही रह जाती है। परन्तु यदि इसी दोहे को दूती अथवा सखी का नायक या नायिका के प्रति वचन समझा जाय, जैसा कि बिहारी के अधिकांश दोहों के बारे में लोग समझते हैं, तो इसमें एक पूरा प्रसंग अन्तर्हित मालूम होगा। नायक और नायिका की चार आँखें होने के बाद नायिका— (मान लीजिए कि दूती नायिका की ही है और वह नायक से कह रही है)—नायक को प्रेम करने लगी है। उसके प्रेम की बात उसके संबंधियों को भी मालूम हो गई है और वे उसे सता

रहे हैं। उधर कोई अन्य व्यक्ति भी—(पड़ोसी, जो शायद नायिका पर दृष्टि रखता था, अथवा नायक की पत्नी, जिसने नायिका के पास कोई गुप्त भत्सर्नापूर्ण संवाद भिजवाया है)—नायिका को दिक् करता है। इतने बड़े प्रसंग का संकेत हमें दूती के अप्रस्तुत निर्वाचन द्वारा, कहने वाली की योग्यता के कारण, मिलता है। अन्त्य व्यंग्य इसका उद्देश्य है जो नायक के भावी उद्योग अथवा आचरण के रूप में होगा; परन्तु इससे पहले व्यंग्य की एक और परंपरा भी है जो नायिका की रति के किसी सचारी को प्रकट करती है। इसके अनिश्चित किसी को यदि दूती के वर्णन प्रकार में, 'दर्ई नई यह रीनि' के कारण, काकु आदि का भी कुछ पता लगे तो हम आश्चर्य नहीं कर सकते। फिर वर्णन की असंगति में यदि हम इसको दूती का काकु-वाक्य मानते हैं तो, व्यंग्य की प्रारंभिक पदवी में ही जहदजहल्लक्षणा (?) हो जाती है; अन्यथा, कवि की उक्ति के रूप में, इसमें, लंबी परंपरा के अभाव से जहल्लक्षणा ही रहनी उचित मालूम होती है। इन सब बातों के साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए, कि जिस प्रकार इस दोहे को कवि अथवा दूती का कथन माना जा सकता है उसी प्रकार, यह नायिका और नायक का भी कथन हो सकता है। वह भी दो प्रकार का - स्वगत, अथवा किसी अन्तरंग मित्र से। इन चारों नये प्रकार के कथनों में व्यंजना की पद्धति तथा व्यंग्य विषयों में भी अलग अलग अन्तर पड़ जायगा।

एक दूसरा उदाहरण 'लिखन बैठि जाकि सबिहि'—वाला वह

दोहा दिया जा सकता है जिसके विषय में पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'बिहारी की सतसई', प्रथम भाग में दस टीकाकारों के दस मत दिए हैं और अंत में कह दिया है—“इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकने के हो सकते हैं। वास्तविक कारण क्या था, सो तो बिहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितरे।”

जैसा पहले कह चुके हैं, इस प्रकार की दिक्कत दोहा छंद की अति संचिप्ता के ही कारण विशेष रूप से पैदा हुई है। इससे प्रायः कवि के ध्वन्यर्थ को पकड़ने में बड़ी मुश्किल पड़ती है और अर्थ बहुत दुरूह हो जाता है, क्योंकि इसमें प्रसादगुण की कहीं कहीं हानि होती है। इसको कवि की गूढ़ता के रूप में गुण माना जाय अथवा दोष, यह कहना कठिन है। परन्तु इतनी बात अवश्य कहनी हांगी कि ध्वन्यर्थ चाहे संलक्ष्यक्रम से प्राप्त हो या असंलक्ष्यक्रम से अथवा लक्षण के किसी प्रकार से, पर वह प्रसाद के साथ, पढ़ते-पढ़ते प्राप्त होना चाहिए। ज्यादा सोचने में कोई विशेष आनंद नहीं है, या यदि है तो गणित की किसी समस्या को हल करने के ढंग का, काव्य के ढंग का नहीं। बिहारी के व्यंग्य में भाव व्यंग्य अथवा वस्तु व्यंग्य के साथ साथ अनुभावों संचारियों आदि का भी गूढ़ व्यंग्य ही उनके अर्थ की गहनता का कारण है। जहाँ अनुभावों या सात्विकों के चित्रण द्वारा भाव व्यंग्य कराया गया है वहाँ यह दिक्कत नहीं होती, बल्कि दोहों को पढ़ कर वास्तविक आनंद की अनुभूति होती है। परन्तु जहाँ आलंभन, उद्दीपन आदि संक्षेप में, प्रसंग भी व्यंग्य हैं वहाँ सचमुच पद्य एक पहिली अथवा गणित की समस्या बन जाता है।

मुक्तक में प्रसंगगर्भत्व से वहाँ अधिक सौष्ठव आता है जहाँ प्रसंग वाचकव्यंग्य हो, अथवा फिर जहाँ जीवन के किसी व्यापक क्षेत्र से चित्रव्यंजना कर उसके द्वारा उद्दिष्ट व्यंग्य कराया गया हो। चित्र-व्यंजना व्यापक नायक तथा आलंघन के उचित गंकेन अथवा उल्लेख से हो सकती है। लोकप्रसिद्ध नायकों तथा उनके लोकप्रसिद्ध चरित्रों को लेने से यह काम कुछ मुकर हो सकता है, जैसे राम और कृष्ण। सूर और मीरा के स्फुट पद इसीलिए अधिक सरल, और सरस भी, हुए हैं।

इस संबंध में ध्यान देने की एक बात और भी है। रसात्मकता को यदि हम भावुकता का ही दूसरा रूप मानते हैं तो हम देखते हैं कि बिहारी के दोहे, ध्वनिपद्धति के अनुसार रसांगों की व्यंजना की ओर प्रवृत्ति रखते हुए भी, सूर और मीरा के पदों की भावुकता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, हम इसे यों कहे कि उनमें सूर और मीरा की सी रसात्मकता नहीं है। अधिक बारीकी से देखने पर हमें इसका कारण यह मिलेगा कि बिहारी के दोहों का चरम व्यंग्य रस, या उसका आधारभूत स्थायी भाव, प्रायः नहीं होता। स्थायी भाव में फलागम की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। बिहारी के दोहे अपनी चरम व्यंजना का लक्ष्य अधिकतर किसी संचारी को ही रखते हैं, जिसमें स्थायी भाव स्थायित्व की पूर्ण पदवी को प्राप्त न होकर अनुमान की चीज़ रहता है। सूर और मीरा में हमें सूर और मीरा के व्यक्तित्व में ही स्थायी-भाव के दर्शन हो जाते हैं। परंतु बिहारी का अपना कोई

स्थायी भाव नहीं है। उनकी केवल शृंगार प्रवृत्ति ही है, जिसके कारण उनके दोहों में भावुकता का उतना आनन्द नहीं है जितना वस्तुतः अर्थ-चमत्कार का। वे पढ़नेवाले को भावविभोर नहीं कर पाते। पर, दोहे की लघुता को दृष्टिगन रखते हुए, चमत्कार का आश्रय लेना अनिवार्य-सा है। इसमें बिहारी की श्रेष्ठता घटती नहीं, बढ़ती ही है।

अब हम यहाँ बिहारी के व्यंग्य के कुछ श्रेष्ठ उदाहरण देते हैं—

(क) नई लगनि कुल की सकुच बिबल भई अकुलाह ।

दुहँ ओर गेंचा फिरे, फिरकी लौं दिन जाइ ॥

(ख) देखौं जागति वैसिये, साँकरि लगी कपाट ।

कित ह्वे आवत जात भजि, को जानै किहि बाट ॥

(ग) कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि ।

लहि पाना पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि ॥

(घ) सखा सिखावति मानविधि, सैननि बरजति बाल ।

हरये कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल ॥

(ङ) नीचाये नीचा निपट, दीठि कुही लौं दौरि ।

उठि ऊँचे नीचे दियौ, मन कुलंग क्षकक्षोरि ॥

(च) नहिं अन्हाय नहिं जाय घर, चित चहुँद्यों तकि तीर ।

परसि फुरहरी लौं फिरति, विहँसति धँसति न नीर ॥

(छ) सटपटात सी ससिमुखी, मुख घूँघुट पटु ढाँकि ।

पावक क्षर सी क्षमकि कै, गई क्षरोखे क्षाँकि ॥

(ज) नैकु हँसौही बानि तज, लख्यौ परत मुख नीठि ।

चौका चमकनि चौध में, परति चौध सी दोठि ॥

- (स) मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यो दिग जाय ।
हँस्यौ खिसानी गर गझो, रही गरै लपटाय ॥
- (ज) पोतम दग मिहिचत तिया, पानि परस सुख पाय ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेक न होति जनाय ॥
- (ट) त्रिवली नाभि दिखाय कै, सिर ढकि सकुच समाहि ।
गली अली की ओट द्वे, चली भली विधि चाहि ॥
- (ठ) कहा लेहुगे खेल में, तजौ अटपटो बात ।
नेक हँसौही है भई, भौहैं सोहैं खात ॥
- (ड) कपट सतर भौहैं करी, मुख अनखौहै बैन ।
सहज हँसोहैं जानिकै, सोहैं करति न नैन ॥
- (ढ) हठ न हठीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाय ।
आन गौंठि ज्यों घुटत त्यों, मान गौंठि छुटि जाय ॥
- (ण) बिछुरैं जिये सकोच इहिं, बोलत बनत न नैन ।
दोऊ दौरि लगे हियै, किये लजौहैं नैन ॥
- (त) इन दुखिया अँखियान कौ, सुख सिरज्यौ ही नाहि ।
देखै बनै न देखते, अनदेखै अकुलाहि ॥
- (थ) चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय ।
प्रीषम बासर भिसिर निसि, पिय मो पास बसाय ॥
- (द) हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सोतकर नाँव ॥
- (ध) रझौ ऐँचि अंत न लझौ, अवधि दुसासन बीर ।
आली बादत बिरह ज्यों, पाँचाली को चोर ॥

भाव की अथवा अवस्था आदि की व्यंजना करने के लिए किसी न किसी रूप में थोड़े बहुत दृश्य आधार की जरूरत होती है। उस आधार का कुशल प्रयोग व्यंग्य को मनोहर बनाने में सहायक होता है। विभाव या अनुभाव के रूप में बिहारी ने भावव्यंजना के लिए जो भित्ति बनाई है उसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुभावों तथा सात्विकों के चित्रण में तो कहीं कहीं सिनेमा का सा दृश्य उपस्थित कर दिया है। 'भोंहनि त्रासति' अथवा 'नहिं अन्हाय...' आदि में हम इस दृश्य को देख सकते हैं। कहीं-कहीं बिहारी ने रूपशोभा का, अथवा रूपशोभा के साथ-साथ प्रकृति का भी मिला कर, दृश्यवर्णन किया है जो भावोत्पत्ति का हेतु बनता है। कहीं शोभा अथवा दृश्य के देखने भर में ही आनन्द मिलता है, इसलिए उन्होंने भी केवल देखने भर के आनन्द के लिए वस्तुवर्णन किया है। इसके संबंध में नीचे जो कुछ उदाहरण दिए जाते हैं वे बिहारी की दृश्यचित्रण कुशलता का पूरा प्रमाण हैं—

(क) कच समेटि कर भुज उलटि, खए सीस पट टारि ।

काकौ मन बाँधे न यह, जूरौ बाँधनिहरि ॥

(ख) पटुला हारु हिये लसं, सन की बेंदी भाल ।

राखति खेत खरी खरी, खरे उरोजनि बाल ॥

(ग) मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय ।

ज्यों ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों त्यों उघरत जाय ॥

(घ) सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति ।

सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह दुति होति ॥

(ङ) चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट क्षीन ।

मानो सुरसरिता बिमल, जल उछलत जुग मीन ॥

(च) हेरि छिडोर गगन तें, परी परी सां दूटि ।

धरा धाय पिय बाच ही, करी खरी रस लटि ॥

(छ) पावस घन आँधवार मँहँ, रह्यो भेद नहि आन ।

राति शीम जान्यो परत, लखि चक्रई चक्रवान ॥

(ज) चुवत स्वेद मकरद वन, तरु तरु तर बिगमाय ।

आवत दक्खिन ते चल्यो, थक्को दटाही वाय ॥

(झ) बैठ रही आति सधन बन, पैठ सदन तन मोह ।

देखि दुपहरी जेठ काँ, छाँहो चाहति छाँह ॥

(ञ) छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध ।

ठौर ठौर क्षौरत झँपत, भौर भौर मधु अंध ॥

ऊपर एक बात कही गई थी, वह यह कि स्फुट काव्य, विशेषतः दोहे में, चमत्कार का आश्रय लेना आवश्यक सा होता है। यह चमत्कार व्यंग्य का साधक होकर उपकारी बनता है, परन्तु वही यदि साधक न बन कर स्वयं साध्य ही रहे तो, वह चुटकुलेवाजी का मजा तो दे सकता है, परन्तु, अच्छे काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। मम्मट ने तो सर्वत्र व्यंग्य की ही प्रधानता मानी है और काव्यों में उन्होंने अव्यंग्य काव्य को 'अवर' बतलाया है—
 "शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।" बिहारी ने चमत्कार का सहारा तो ढूँढा ही है, यह अब तक के बहुत से उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा। परन्तु किन्हीं किन्हीं दोहों में उन्होंने केवल

चमत्कार के ही लिए कोई उक्ति कही है। इनमें बहुत सी उक्तियाँ बड़ी अच्छी हैं। पर कहीं कहीं चमत्कार का प्रेम बढ़कर असंभव अत्युक्ति तक पहुँच गया है जिसमें वह ग्लानिकर अथवा उपहास्य बन गया है। अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के, चमत्कारप्रियता के उदाहरण नीचे के उद्धरणों में देखे जा सकते हैं—

(क) छुटें छुटावै जगत तें, मटफारे मुकुमार ।

मन बाँयत बेनी बँधे, नील छबाले बार ॥

(ख) कुटिल अलक छुटि परत मुख, बड़िगौ इतौ उदोत ।

चंक विकारा देत उपौ, दाम रुपैया होत ॥

(ग) कहत मवै बेडा दिये, आँक दसगुनो होत ।

निय लिखार बेंडा दिये, अगनित बढ़न उदोत ॥

(घ) अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन मे सब गात ।

दोहरे, निहरे चोहरे, भूयन जाने जान ॥

(ङ) पत्रा ही गिनि पाइयनु, वा घर के चहुँ पास ।

नित प्रति पृथ्वी ई रहै, आनन ओप उजास ॥

(च) करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़ु नीच ।

दाँन्हे हूँ चसमा चखनु, चाहै लहे न माँचु ॥

(छ) इत आवन चलि जात उत, चला छ सातिक हाथ ।

चढ़ा हिंडोरै सी रहै, लगा उसासनि साथ ॥

(ज) बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किए नीटि ठहराइ ।

सूछम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहिं जाइ ॥

चमत्कार का वाग्वैदग्ध्य से भी बहुत संबंध है। ऊपर के बहुत

से उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य भी देखने को मिलेगा। व्यंग्योक्ति अथवा हास्य आदि में वाग्वैदग्ध्य खास तौर से प्रस्फुरित होता है। बिहारी ने हास्य के भी कुछ दोहे लिखे हैं। उनमें वाणी की विदग्धता तथा व्यंग्य अथवा मजाक की बारीकी दोनों ही, का सुन्दर रूप अलग अलग अथवा एक साथ, द्रष्टव्य है। मजाक या व्यंग्य के अतिरिक्त सभाषण की वाक्-चातुरी भी बिहारी में पाई जाती है। उदाहरण—

(क) चिर जाँवौ जोरो जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।

को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥

(ख) करौ कुबतु जगु कुटिलता, तजौ न दीनदयाल ।

दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल ॥

(ग) मोहि दियौ मेरौ भयौ, रहत जु मिल जिय साथ ।

सो मन बाँधि न दाँजियै, पिय सौतिन के हाथ ॥

(घ) चित पितुमारक जोगु गनि, भयौ भये सुत सोग ।

फिरि हुलस्थौ जिय जाइर्सा, समुझै जारज जोग ॥

(ङ) करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।

रे गंधी मति अंध तू, इतर दिग्वावत काहि ॥

(च) बेसरि-मोती-दुति झलक, परी अधर पर आय ।

चूनी होय न चतुर तिय, क्यों पटु पोंछयो जाय ॥

(छ) यों दलमलियत निरदर्ई, दर्ई कुसुम से गात ।

कर धरि देखो धरघरा, अजौ न उर को जात ॥

परन्तु यदि देखा जाय तो व्यंग्योक्ति या काकु, चमत्कार,

वाग्विदग्धता आदि कोई अलग अलग स्वाधीन तत्त्व नहीं हैं। शास्त्रियों ने अवश्य छान-बीन कर, बाल की खाल निकाली है, परन्तु देखने में यह आता है कि ये सब प्रायः एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। इनका संबंध प्रसंग की विशेषता तथा प्रयोक्ता की मनः प्रगति से है। किसी प्रसंग को देख कर जब एक प्रधान भाव हृदय में उठता है तो उससे संबंध रखने वाली तमाम मानसिक क्रियाएँ एक साथ ही हो जाती हैं और प्रयोक्ता जब वर्णन करने लगता है तो उन क्रियाओं का विश्लेषण करने की उसे फुरसत नहीं होती। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने वर्णनकर्म से अवगत भी रहते हैं वे अपने वर्णन में प्रभाव का उद्देश्य भी रखते हैं। फलतः प्रभाव उत्पन्न करने के जो जो भी उपाय उनकी तात्कालिक विचार-परंपरा के सामने आते हैं उनका वे उपयोग कर लेते हैं। बिहारी के जिन उदाहरणों में अलग अलग तत्त्व बतलाने की चेष्टा की गई है उनमें अधिकांश ऐसे मिलेंगे जिनमें से किसी एक में ही तमाम तत्त्व एक साथ उदाहृत हो जाते हैं; और प्रायः ये ऐसे मिलें रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना कठिन मालूम होता है।

यही बात अलंकारों की भी है। कोई एक स्वतंत्र अलंकार अपने शुद्ध रूप में अकसर कम ही मिलता है। बिहारी में ही नहीं, अन्यान्य कवियों में भी। बात यह होती है कि किसी प्रसंग को देख कर जब कोई भाव अपने प्रभाव के साथ हृदय में उत्पन्न होता है तो सांसारिक न्याय से किसी प्रधान अलंकार-भाव का (जो प्रभाव का ही रूपान्तर होता है) अज्ञातरूप से जन्म हो जाता

है। भाव का अनुरोधी कवि उस अलंकार को नहीं देखता, इसलिए उस को निभाने की भी कोशिश नहीं करता। उसकी दृष्टि केवल प्रभाव की ओर लगी रहती है, अतः जो मुख्य अलंकार-भावना अज्ञान रूप से उसके मन में उद्भूत हो गई थी उसी की परंपरा में दूसरे मिलते-जुलते अलंकारों की छाया भी महचारी या संचारी ढंग से छिपे-छिपे कवि की उक्ति में आ जाती है। यह यहाँ तक होता है कि कभी कभी कवियों की उक्ति में बहुत सरल अलंकार, जैसे उपमा, रूपक, तक अपने शुद्ध रूप में नहीं रहने पाते। महाकवियों की वाणी में अलंकार-संकरता हा अधिक देखने को मिलती है। इसके प्रमाण में किसी कवि की किसी उक्ति को लेकर देखा जा सकता है। एक विद्वान् उसमें यदि एक अलंकार बताएगा तो दूसरा दूसरा; और यह भी असंभव नहीं कि वे ही विद्वान् कुछ समय के बाद उसी उक्ति में अपने पहले बनाए हुए अलंकारों से भिन्न दूसरे अलंकार देखने लगे। परन्तु यदि स्वयं कवि से पूछा जाय तो वह शायद उसमें कोई भी अलंकार न बना सके। अतः बिहारी जैसे महाकवि में भी, जहाँ भाव और उसके प्रभाव का ही उद्देश्य है, हमें लगभग सर्वत्र ही भावगंकरना मिलेगी। वह भी बड़े उलभे हुए ढंग की। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' नामक रचना में बिहारी का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

यह मैं तोही मैं लखी, भगति अपूरब बाल ।

लहि प्रसाद माला जु भो, तन कदंब की माल ॥

और इसमें सोलह अलंकार खोज निकाले हैं। फिर भी उनकी

सूची पूरी नहीं हुई है, क्योंकि अन्त में उन्होंने लिखा है—“गौण रूप से अभी और भी कई अलंकार इसमें निकल सकते हैं।” हमारा अभिप्राय भिन्न जी से सहमति या असहमति प्रकट करने का नहीं है; हम यही दिखाना चाहते थे कि बिहारी की अलंकार-योजना का रूप क्या है। हम यह भी नहीं कहना चाहते कि बिहारी की अलंकार-संकरता से उनके काव्य का रूप बिगड़ा है। इसके विपरीत हमारी सम्मति में तो इससे उसकी मनोहरता की वृद्धि तथा कवि के उद्देश्य की सिद्धि ही हुई है।

पर, जैसा कहा गया है, संकरों में भी किसी मुख्य अलंकार का अस्तित्व तो प्राय रहता ही है। अलंकार-प्रेमी अन्वेषकों को भी उस मुख्य अलंकार से ही संतोष कर लेना काफी है। यहाँ भिन्न भिन्न अलंकारों के उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। अब तक जितने उद्धरण दिए गए हैं वे ही अलंकारों के भी उदाहरणों का काम दे सकते हैं। मुख्यभूत अलंकार की प्रतीति उनमें हो जाना कठिन नहीं है। हाँ, प्रवृत्ति की दृष्टि से यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि जहाँ अनुभावों और सात्विक भावों द्वारा भावव्यंग्य का उद्देश्य है वहाँ हमारे कवि की रुचि स्वभावोक्ति की ओर विशेष देखी जाती है तथा जहाँ शोभा-वर्णन और चमत्कार आदि का उद्देश्य है वहाँ अतिशयोक्तियों की ओर। हम केवल प्रवृत्तियों की ही बात कह रहे हैं, ‘स्वभावोक्ति’ और ‘अतिशयोक्ति’ अलंकारों की नहीं। स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति तो मनुष्य हृदय की दो बहुत स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। अलंकार रूप में ‘अतिशयोक्ति’

स्वयं सादृश्यमूलक अलंकार है, परन्तु प्रवृत्तिरूप में यह विरोध-मूलक अलंकारों तक की तह में पाई जा सकती है। स्वभावोक्ति अतिशयोक्ति की विरोधिनी है और प्रवृत्ति रूप में वस्तुओं तथा दशाओं के सहज दर्शन में पाई जाती है। इन प्रधान प्रवृत्तियों के अतिरिक्त बिहारीलाल में एक गौण प्रवृत्ति ध्वनि-साम्य की भी अधिक दृष्टिगोचर होती है, जिसका उद्देश्य ज़्यादातर चमत्कार-वर्धन है। केवल चमत्कार के लिए प्रयुक्त किए गए ध्वनि-साम्य का एक उदाहरण देते हैं। इसमें यमक प्रधान है—

केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप।

गातरूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप ॥

बिहारी ने अन्योक्तियाँ भी बड़ी अच्छी कही हैं। दो एक उदाहरण उनके भी देखने चाहिएँ—

(क) 'नहिं पराग नहिं मधुर, मधु' इत्यादि। —पीछे दिया जा चुका है।

(ख) 'करि फुलेल को आचमन' इत्यादि। ,, ,,

(ग) को छूठ्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।

ज्यों ज्यों सुरक्षि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरक्षत जात ॥

(घ) स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचार।

बाज, पराये पाँन पर, तू पंछी हि न मारु ॥

(ङ) पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल।

भोड़र हू की भासिहै, बेंदी भामिनि भाल ॥

च) जद्यपि सुंदर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।

तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह ॥

(छ) इहि भाशा भटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल ।

हैहैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन बे फूल ।

(ज) चले जाहु झौं को करै, हाथिन को ब्यौपार ।

नहि जानत यहि पुर बसैं, धोबी औंढ़ कुम्हार ॥

अन्योक्तियों के विषय मुख्यतः सांसारिक अनुभवों के तथ्य हैं । सांसारिक अनुभव की बहुत सी बातें बिहारीलाल ने कहीं कहीं अन्योक्ति के रूप में न कह कर सीधी-सीधी भी कही हैं । इसके अतिरिक्त कुछ दोहे उनके ईश्वर तथा भक्ति के ऊपर भी हैं । ईश्वर, भक्ति तथा लोकानुभव से संबंध रखने वाली बिहारी की कुछ मूर्क्तियाँ भी यहाँ दी जाती हैं—

(क) मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।

जा तनु की झौं परे, स्याम हरित दुति होइ ॥

(ख) जगत जनायौ जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहि ।

ज्यों आँखिन सब देखियै, आँखि न देखी जाहिं ॥

(ग) अपनै अपनै मत लगे, बादि मचावत सोरु ।

ज्यों त्यों सब कों सेहबो, एकै नन्दकिसोरु ॥

(घ) कब को टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ ।

तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जगनाइक जग-बाइ ॥

(ङ) कौन भौंति रहिहै बिरुद, अब देखबो मुरारि ।

बीधे मो सों आइकै, गीधे गीधहिं तारि ॥

(च) बड़े न हूजैं गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।

कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥

- (छ) नर की अरु नल नीर की, एकै गति करि जोय ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय ॥
- (ज) घर घर डोलत दीन है, जन जन याचत जाय ।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥
- (झ) बुरौ बुराई जो तजै, तौ मन खरो सकात ।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गमैं लोग उतपात ॥
- (ञ) कनक कनक तैं सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
यहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय ॥
- (ट) कोटि यतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥
- (ठ) दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न करै दुख द्वंद ।
अधिक अँधेरो जग करत, माल मावस रवि चंद ।

बिहारी की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है जिसमें बुंदेलखंडी का पुट है । शब्द संस्कृत तथा फ़ारसी के भी आए हैं । कहीं कहीं शब्द तोड़े-मरोड़े भी गए हैं । परन्तु वेसे इनकी भाषा बहुत गठीली सुव्यवस्थित और प्रभावमयी है, मुहावरेंदार है । कभी कभी एक ही दोहे में एक साथ कई कई मुहावरे आगए हैं, जैसे—

मूड़ चढ़ाए ह रहै, परयो पोठि कच-भार ।

रहै गरै परि राखिबो, तऊ हिये पर हार ॥

जहाँ व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं हैं वहाँ प्रसादगुण अच्छा है । परन्तु प्रसाद की अपेक्षा बिहारी में माधुर्य की मात्रा विशिष्ट है । ध्वनि-साम्य के लिए वर्णमैत्री तो, किसी न किसी परिमाण में,

लगभग सर्वत्र ही है, जिससे तरह तरह के अनुप्रासों की उत्पत्ति होती है; परन्तु 'सतसई' में पदमैत्री के उदाहरण भी कम नहीं हैं। प्राकृतिक वर्णानों में विषय की अनुकूलना के लिए भाषा भी प्रायः अपना रूप तदनुसार हो बदल लेती है, जैसे—

रनित भृंग घंटावला, झरित दान-मद-नीर ।

मंद मंद आवत चलयौ, कुंजर कुंज समीर ॥

इस दोहे के पहले ओर दूसरे चरणों में घटे के बजने तथा नीर के झरने की ध्वनियों की अनुकूलना प्रयुक्त शब्दावली में गूँझ रही है। इस तरह के प्रयोग विषय का प्रत्यक्ष कराने, उनके अनुरूप भाव पैदा करने, में बहुत जल्दी सहायक होते हैं।

बिहारी की कविता में कुछ साधारण से दोष भी हैं। असंभव अत्युक्तियों का जिक्र किया जा चुका है। इसी तरह प्रसंगगर्भत्व से कहीं कहीं उत्पन्न होने वाली दुर्दृष्टता का भी। दो चार स्थलों में इन्होंने ऐसे उपमानों का भी प्रयोग किया है जो भावावबोध कराने में असमर्थ हैं और इसलिए अप्रयोज्य हैं, यथा—

भाल लाल बंदी छये, छुटे बार छबि देत ।

गह्यौ राहु अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत ॥

एक दो स्थानों पर विपरीत भावों के एकत्र कर देने से वर्णन चट्टेग-जनक भी होगा है, जैसे—

दग थरकौहैं अध-खुले, देह थकौहैं डार ।

सुरति-सुखित सी देखिये, दुखित गरभ के भार ॥

यहाँ 'सुखित' और 'दुखित' के विरोधाभास को दिखाने के

लिए कवि ने सुरत और गर्भावस्था के दो ऐसे परस्पर-विरोधी प्रसंग उपस्थित किए हैं जो, गर्भिणी की शोभा (?) का आस्वादन कराना (?) तो दूर रहा, उसके चित्र से उलटे विरत करते हैं। गर्भिणी का चित्र होने से इस दोहे में ग्राम्यता भी है।

परन्तु बिहारी की संपूर्ण रचना में असंभव अत्युक्तियों या उपमानों या ग्राम्य वर्णनों के उदाहरण इने-गिने ही हैं और वे गुणों की अधिकता में ऐसे ढक जाते हैं कि उनसे कवि की श्रेष्ठता को कोई हानि नहीं पहुँचती। बिहारी सचमुच अपने ढंग के अद्वितीय कवि हैं।

भूषण

रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र भूषण कवि का जन्म कानपुर के समीप तिकवाँपुर गाँव में संवत् १६६२ के आसपास हुआ था । इन्होंने लगभग १०२ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की । इनकी मृत्यु संवत् १७६५ के इधर-उधर हुई । ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । इनके वास्तविक नाम का पता नहीं । 'भूषण' इनकी उपाधि थी जो इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा 'हृदयराम-सुत रुद्र' ने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर दी थी ।—

कुल सुलंकि चितकूटपति, साहस-सील-समुद्र ।

‘कवि भूषण’ पदवी दर्ई, हृदयरामसुत रुद्र ॥—(शिवराज-भूषण)

चित्रकूट के राजा के यहाँ से भूषण, कुछ समय बाद, शिवाजी के यहाँ चले गए थे । इनको सब से अधिक धन और मान शिवाजी के यहाँ से ही प्राप्त हुआ । परन्तु धन की अपेक्षा भूषण को मान अधिक प्यारा था, जिसके कारण अपनी भावज के किसी ताने पर तरुणावस्था में ही ये घर छोड़ कर चले आए थे और तब तक वापिस न गए जब तक कि इन्होंने उस ताने का जवाब न दे दिया छत्रसाल से उन्हें उतना धन नहीं मिला जितना शिवाजी से, परन्तु छत्रसाल उनका मान ख़ुब करते थे । कहा जाता है कि छत्रसाल ने भूषण की पालकी का डंडा तक अपने कंधे पर रख लिया था,

जिम पर भूषण पालकी से एक दम कूद पड़े। इसी कारण (तथा छत्रसाल के स्वतंत्रताभिमानी, जातिप्रेमी होने के कारण) मान-धनी भूषण उनके यहाँ भी आते-जाते थे। शिवाजी के अनिरुक्त भूषण ने छत्रसाल को भी अपनी कविता का नायक बनाया है, यद्यपि शिवाजी के यहाँ रहने के कारण उन्होंने शिवाजी के विषय में ही सब में अधिक कहा है। कुमायूँ के राजा ने एक छन्द कहने पर भूषण को एक लाघव रुक्या देना चाहा, परन्तु आदर-विशेष न दिखाया, जिम पर उन्होंने रुक्या लेने से इन्कार कर दिया।

आत्म-स्मयान का इतना मूल्य रखनेवाले इन भूषण के लिए स्वतंत्रताप्रेमी तथा जाति-प्रेमी होना भी स्वाभाविक ही था। इसी लिए हम देखते हैं कि कानपुर के रहनेवाले होकर भी उन्होंने म्हराज्य-स्थापक छत्रपति शिवाजी के यहाँ जाना पसन्द किया और सुदूर दक्षिण की इननी लंगी यात्रा की। अन्यथा काव्योपजीविकामात्र के लिए क्या वे भी दूसरे कवियों की भाँति किसी पास-पड़ोस के राजा के यहाँ केलिक्रीड़ा के गीत नहीं गा सकते थे। पर ऐसे गीत गाने या राजाओं के झूठे प्रशंसा वाक्य रचने को भूषण पवित्र वाणी का दुरुपयोग समझते थे। उन्होंने कहा है—

ब्रह्म के आनन तें निरुक्षे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी ।

राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकहु व्यास के अग सोहानी ॥

भूपन यो कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी ।

पुन्य चरित्र सिवा सरजे सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

(शिवराज भूषण)

भूषण ने शिवाजी के रूप-सौन्दर्य अथवा उनके रनिवास-जीवन का कहीं वर्णन नहीं किया, बल्कि बराबर उनके पराक्रम और प्रताप की ही ओर दृष्टि रखी है। शिवाजी के यश, प्रताप और दान आदि के वर्णनों में जो अतिशयोक्तियाँ दिखाई देती हैं सो कुछ तो काव्यशैली के कारण, और कुछ वीर-काव्य के उद्देश्य के कारण। वीरकाव्य में प्रोत्साहन और भावोत्तेजन के उद्देश्य का रहना आवश्यक है। यदि कवि का उद्देश्य अपने वीर नायक की प्रशंसा करना ही होता तो वह उसके ही एकान्त व्यक्तित्व को दृष्टिगन्त रखना। परन्तु, इसके विपरीत, भूषण के शिवाजी इसलिए स्तुत्य नहीं हैं कि वे शिवाजी हैं, बल्कि इसलिए कि वे जातिरक्षक हैं और धर्मरक्षक हैं। जिस प्रकार तुलसीदास के राम अपने लोकसंग्रह के कारण बड़े हैं उसी प्रकार भूषण के शिवाजी भी हिन्दू जाति के उद्धार तथा धर्मसंरक्षण के कारण ही हमारे पूज्य हैं। जिस प्रकार तुलसीदास का रावण इसलिए प्रतिनायक नहीं है कि वह राम का शत्रु है बल्कि इसलिए कि वह लोक का शत्रु है, उसी प्रकार भूषण का प्रतिनायक भी इसीलिए प्रतिनायक है कि वह हिन्दू जाति का वैरी है। शिवाजी भूषण के आदर्श हैं इसलिए कि उन्होंने—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत

राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं ।

हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की

कॉंधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मैं ॥

—(शिवा-बावनी)

भूषण की यह जो जातीय भावना है वही उसके काव्य की प्रेरक शक्ति है, उसके काव्य की आत्मा है। मुसलमानों के अत्याचार और हिन्दुओं की दलित दशा को देख कवि का हृदय अवश्य उबलता होगा। उसने निदान करके देखा कि इस दशा का कारण हिन्दुओं की आपसी फूट है। यह निदान इतना कटु था कि दशा सुधरने के बाद, उत्सव के समय भी कवि उसे नहीं भूलता। यद्यपि कवि को हर्ष है कि “टूटी पातसाही सिवराज संग लरते” तथापि पातसाही टूटने का जो पहला दृष्टान्त कवि के सामने आता है यह यही है कि “आपस की फूट ही से सारे हिन्दुवान टूटे।” भूषण ने कतिपय फुटकर पद्यों में कुछ अन्य राजाओं का भी सक्षेप में वर्णन किया है, पर स्तव उन्हीं का किया है जो हिन्दुओं की ओर से लड़े हैं और जो देशद्रोही थे उनकी निंदा की है। मध्यदेश का एक छोटा सा राजा भगवन्तराय तक उनके लिए ‘कुल खंभ हिन्दुआने को’ था। क्योंकि उसने मुसलमानों से लड़ते-लड़ते अपने प्राण दिए थे।—“फूटे भाल भिच्छुक के जूमे भगवन्तराय, अरराय टूट्यो कुल खंभ हिन्दुआने को।”

भूषण की कविता वीररस की कविता है। इसको पढ़ते पढ़ते एक बार तो कायर तक का हृदय उत्साह से फूल उठेगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। यदि दन्तकथा सत्य है तो एक बार औरंगजेब तक का हाथ, भूषण के ऐलान के मुताबिक, उसकी कविता सुनकर बरबस मूँछों पर चला गया था, यद्यपि औरंगजेब अपने हाथ को रोक रखने के लिए दृढ़संकल्प होकर बैठा था।

भूषण की कविता में ऐसा प्रभाव होना स्वाभाविक है। इतने ज्वलंत नायक और प्रतिनायक, आलंबन रूप दीन देश और प्रति-नायक के कृत्यों के रूप में उद्दीपन को पाकर भूषण को इनके साथ केवल अपने अनन्य उत्साह का योग करने भर की देर थी। फिर तो जो कुछ भी उनके मुँह से निकला वह वर्णन नहीं, वर्णन-विषय का मूर्त और सजीव रूप बनकर सामने आया। जिस समय शिवाजी युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं उस समय का दृश्य है—

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि

सरजा सिवाजी जंग जोतन चलत है।

भूषण भनत नाद बिहद नगारन के

नदी-नद मद गैबरन के रलत है ॥

ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल

गजन की टैलपैल सैल उसलत है।

तारा सो तरनि धूरिधारा मैं लगत, जिमि

थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥

(शिवा-बावनी)

इसी प्रकार खवासखाँ के साथ शिवाजी के युद्ध का इस भाँति चित्र उपस्थित किया गया है—

उमड़ि कुडाल मैं खवासखान आए भनि,

भूषण त्यों धाये सिवराज पूरे मन के।

सुनि मरदाने बाजे हय हिहनाने घोर,

मूछें तरराने मुख बीर धीर जनके ॥

एकै कहैं मार मार सगहरि समर एकै

मलेच्छ गिरे मार बीच बेसगहार तन के ।

कुंडन के ऊपर कड़ाके उठैं ठौर ठौर,

जीरन के ऊपर खड़ाके खड़गन के ॥

—(शिवराज भूषण)

एक दृश्य छत्रसाल के युद्ध का भी देवना चाहिए—

अत्र गहि छत्रसाल खिद्यो ग्वेत बेतवै के,

उतते पठानन हू कीन्ही झुकि क्षपटैं ।

हिग्मति बड़ी कै कबडी के खिलवारन लौं,

देत सै हजारन हजार बार चपटैं ॥

भूपन भनति काली हुलसी असीसन कौं,

सीसन कौं ईस की जमाति जोर जपटैं ।

समद लौं समद की सेना त्यों बुँदेलन की,

सैलैं समसैरैं भई बाड़व की लपटैं ॥

—(छत्रसाल दशक)

युद्ध और शौर्य के वर्णन के साथ ही साथ भूषण ने अपने नायक के प्रभाव का और भी विशद वर्णन किया है। जिसकी शूरवीरता रण में सदा ही शत्रुओं के बुरी तरह दाँत खट्टे कर देती थी उसका आतंक शत्रुओं के हृदय पर कैसा रहा होगा ! शिवाजी का नाम सुनकर शत्रुओं का हृदय दहलता था, नगाड़े की ध्वनि से तो उनकी छाती ही फट जाती थी, और जब औरंगज़ेब किसी सेनापति को दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा देता, अथवा किसी

को वहाँ का सूबेदार बनाता तो उस व्यक्ति की आधी जान पहले ही निकल जाती थी । भूषण ने इस प्रभाव और आतंक के वर्णन दूसरे वर्णनों की अपेक्षा अधिक किए हैं और उनमें वीररस के सहयोगी दूसरे दूसरे रसों का भी समावेश हुआ है । भय का चित्र नीचे के उदाहरणों में कितना स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार

दिल्ली दहसति चितै चाह करपति है ।

बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति

फिरति फिरंगिनी की नारी फरकति है ॥

थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा

हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।

राजा सिवराज के नगारन को धाक सुनि

केते पातसाहनि की छाती धरकति है ॥ —(शिवाबावनी)

नीचे के छंद में स्त्रियों की भी घबराहट देखने लायक है—

चमकती चपला न फेरत फिरंगे भट

इन्द्र को न चाप रू। बैरख-समाज को ।

धाये धुरवा न, छाये धूरि कै पलट, मेघ

गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को ॥

भौंसला के डरन डरानी रिपु-रानी कहें

‘पिय भजौ’, देखि उदौ पावस के साज को ।

घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे

भूपन भनत आयौ सैन सिवराज को ॥—(शिवराज भूषण)

शिवाजी के आतंक के वर्णनों को देखने से पता चलता है कि शत्रुओं की अपेक्षा उनकी स्त्रियों के भय को दिखाने में कवि ने मानस विज्ञान का भी उपयोग अधिक अच्छा किया है। कारण स्पष्ट है। शत्रु भयभीत होकर भी किसी न किसी उद्दिष्ट क्रिया में ही अपने भय का अवसान करेगा। परन्तु उस रात-दिन के लड़ाई-झगड़े में परदानशील बेगमों को आठों पहर चिन्ता करती रहने के अतिरिक्त और काम ही क्या था। अभी जो छंद उद्धृत किया गया है वह यद्यपि अलंकार की दृष्टि से अपन्हुति का उदाहरण है, तथापि काव्यात्मा की दृष्टि से उसमें अलंकार गौण है। शत्रु-पत्नियों की मानसिक अवस्था का चित्रण ही उसका प्रधान उद्देश्य है। अलंकार इस उद्देश्य का उपजीवीमात्र है। जहाँ स्त्रियों की मानसिक अवस्था की परिणति अनुद्दिष्ट क्रिया में होती है उसका चित्रण नीचे के छंद में बड़ा अच्छा किया गया है—

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,

कोन्ही सिवराज बीर अकह कहानियाँ।

भूषण भनत तिहुँ लोक मैं तिहारी धाक,

दिल्ली औ बिलाइत सकल बिललानियाँ ॥

आगरे अगारन की नाँघती पगारन,

सँभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ ॥

कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहि ,

बीबी गहे सूथनी सुनीबी गहे रानियाँ ॥

भयानक, बीभत्स और रौद्र वीररस के स्वभाव-सहायक रस

हैं। भूषण ने वीभत्स के अच्छे वर्णन किए हैं, पर रौद्र उतना अधिक नहीं है। आतंक के वर्णन में शत्रुओं के भय की दयनीय दशा दिखाते हुए कहीं कहीं भूषण ने मज़ाक भी बड़ा अच्छा किया है, जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहै बैन, मियाँ कहियत काहि नै ।

भूपन भनत बूझे आये दरबार तें
कँपत बार बार क्यों सँभार तन नाहिने ॥

सीनो धकधकत, पसीनो आए देह सब
हीनो भयो रूप न चितौत बायें दाहिने ।

सिवाजी की संक मानि गये हौ सुखाय, तुहैं
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिने ॥

शत्रुओं की तुच्छता और जुद्धता की इस बलवती धारणा में भूषण मज़ाक से आगे बढ़कर, व्यंग्यपात भी बड़ा चुटीला करते हैं। ओज की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाने पर कहीं कहीं व्यंग्योक्ति कटूक्ति भी बन जाती है। दो-तीन उदाहरण इसके भी देखने योग्य हैं। यथा—

(क) किवले के ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है ।

बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै मारि डारयो ।

मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई हैं ॥

बन्धु तौ मुराद बकस बादि चूरु करिबे को,

बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है ।

भूषण सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कोन्हें तब पातसाही पाई है ॥

(ख) दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हट हिन्दुवाने की,
कढ़ि-गई रैयति के मन की कसक-सब,
मिटि-गई ठसक तमाम तुरकाने की,
'भूषण' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धक,
धाक सुनि सुनि सिवराज मरदाने की,
मोटी-भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥

(ग) दारा की न दौर यह रारि नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहो है किधौं मीर सहवाल को
मठ विस्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा, न मंदिर गोपाल को ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें और बैरी कतलाम कीन्हें,
ठोर ठोर हासिल उगाहत है साल को ।
बूझति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥

प्रतिनायक-पक्ष के लिए यह हेय-भावना कुछ तो नायक के उत्कर्ष के कारण है और कुछ नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए । यथार्थ जीवन में भी व्यक्ति जितना अधिक धैर्यशील, साहसी और पराक्रमी होता है वह उतनी ही कठिन परिस्थितियों से युद्ध करने

की सामर्थ्य रखता है; परन्तु, उसी भाँति जो व्यक्ति जितनी कठिन परिस्थितियों से युद्ध करके विजय प्राप्त करता है वह उतना ही धैर्यवान्, व्यवसायशील और पराक्रमी समझा जाता है। दोनों परिस्थितियाँ एक दूसरी का प्रतिबिम्ब हैं, परन्तु फिर भी वे एक दूसरी से भिन्न हैं। शिवाजी या छत्रसाल के चरित्रों में जो गुण थे उन्हीं के कारण वे औरंगज़ेब जैसे शत्रु का माँझा ढोला कर सके, परन्तु दूसरी ओर, औरंगज़ेब जैसे शत्रु के मिलने पर ही उनके चरित्रगुण अपने पूर्ण रूप में विकसित हो सके तथा हमको उन गुणों का परम उज्ज्वल रूप देखने को मिल सका। भूषण भी इस को समझते हैं। उनके नायक धीरोदात्त श्रेणी के नायक हैं। इन नायकों का साहस और पराक्रम अपने मागे की बाधाओं को देख कर घटता नहीं; और बढ़ता है। जितनी ही गुरुतर वे बाधाएँ हैं उतना ही विशाल उन नायकों का पराक्रम है। इसलिए, यद्यपि भूषण को शत्रुओं की पतली हालत देखकर अवश्य हँसी आती होगी और उन्हें चिढ़ाने में मज़ा भी आता होगा तथापि अपने नायक के कार्य की गुरुता को देखते हुए वे यह भी अवश्य देखते हैं कि शत्रु कितना भारी है। वह यह नहीं कहते कि यदि नायक सिंह के समान है तो शत्रु बकरी है, प्रत्युत वह शत्रु को भी हाथी बनाते हैं और उसे 'अरीन्द्र' कहते हैं—“दाबि यों बैठो नरिन्द अरिंदहि मानो मयन्द गयन्द पछारयो।” ‘गयन्द’ शब्द में बल और विशालता दोनों का ही संकेत है। नायक के उत्कर्ष को दिखाने के लिए प्रतिनायक का उत्कर्ष दिखाना भी सफल कविकर्म का एक श्रेष्ठ साधन होता है।

भूषण ने शिवाजी के शौर्य, पराक्रम, आतंक के अतिरिक्त उन के यश तथा दान का भी वर्णन किया है। यश तो पराक्रम का स्वाभाविक उपलब्ध बन ही जाता है; परन्तु दान का पहला संबंध कवि की अपनी कृतज्ञता से है, उसके बाद नायक की दानवीरता से, तदुपरांत यश के उपकारण के एक स्वरूप से। शिवाजी के दान के बारे में भी भूषण ने कितने ही छंद कहे हैं, पर इस विषय का निचोड़ यह है—

औरन के जाँच कहा, नहिं जाँच्यो सिवराज ।

औरन के जाँचे कहा, जो जाँच्यो सिवराज ॥

भूषण के कुछ फुटकर छंद शृंगार-रस पर भी मिलते हैं। इनमें भी भूषण की रणध्वनि की भलक कहीं कहीं थोड़ी सी आ गई है, यथा—“नैन जुग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय, अधर कपोल तेज टरे नाहिं टरे हैं” आदि। परन्तु उनके वीररस के कवि होने, अथवा उनके शृंगारी पद्यों में वीराभास होने के कारण हमको यह न समझ लेना चाहिए कि भूषण के हृदय में कोमलता का कोई अंश ही न था। विरहिणी नायिका के निम्नलिखित चन्द्रोपालंभ में विरहिणी के हृदय का कैसा स्वाभाविक रूप दर्शाया गया है—

जिन किरनन मेरो अंग छुयो तिनहि सां,

पियअंग छुवै क्यों न मैं-दुख-दाहे को ।

भूषण भनत तू जो जगत को भूषण है,

हाँ कहा सराहीं ऐसे जगत-सराहै को ॥

चंद ऐसी चाँदनी तू प्यारे पै बरसि उतै,

रहि न सकै मिलाप होय चित चाहे को ।

तू तो निसाकरै सब ही की निसा करे, मेरी,

जो न निसा करै तो तू निसाकरे काहे को ॥

एक दूसरे उदाहरण मे वसंत के साज-बाज को देखकर विरहिणी अपने पति के पास संदेश भिजवानी है—“इतनो संदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ, कहो जाय कंत सों बसंत ऋतु आई है।” कहने को, नायिका ने इस संदेसे में कुछ भी नहीं कहलवाया है; परन्तु, वस्तुतः उसने इसमें अपना दिल निकाल कर रख दिया है। यह हृदय की वह अनिर्वचनीय अवस्था है जिसमें उसे अनिर्वचनीय बतलाना भी दुष्कर होता है। इतनी बारीक, परन्तु तीव्र, भावव्यंजना के उदाहरण साहित्य में बहुत कम स्थानों पर देखने को मिलते हैं।

प्रत्येक कवि की भाँति भूषण ने भी प्रभावोत्पादकता के लिए चमत्कार का आश्रय ग्रहण किया है। उसे हम प्रासंगिकमात्र नहीं कह सकते, वह इरादा करके लाया हुआ है। भूषण के छंदों में सानुप्रासता तो सर्वत्र ही है। स्थान स्थान पर यमक और लाटानुप्रास का भी मनोहर विधान है, यथा—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।

कंद मूल भोग करें, कंद मूल भोग करें,

तीन बेर खार्ती ते वै तीन बेर खाती हैं ॥

भूपन सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग,

बिजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।

भूपन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,

नगन जडार्ती ते वै नगन जडती हैं ॥

परन्तु भूषण का चमत्कार केवल नकली शोबदेबाज़ी या मुलम्मागोरी का नहीं है, वह अर्थ को भी प्रेरित करता है—भाव-सात्म्य का एक प्रधान अंग बन कर वह अपना उचित कार्य करता है। “मीरन के उर पीर बढ़ी यों जु भूल गई सुध पीरन हू की” में ‘ईर’ और ‘अन’ की आवृत्ति केवल शब्द का खिलवाड़ ही नहीं है, वह अमीरों के हृदय की पीड़ा का सच्चा स्वरूप भी है।

भूषण की कविता में अर्थालंकारों का प्रयोग भी कहीं अस्वाभाविक नहीं हुआ है। अब तक उदाहृत पद्यों में हर जगह ही कोई न कोई अर्थालंकार है। परन्तु कहीं भी वह हमें खटकता नहीं बल्कि, इसके विपरीत, कथन के भावावेश में हमको अलंकार के अस्तित्व का ज्ञान तक नहीं होता। “तारा सो तरनि धूरिधारा में लगत जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत है” में क्या ही सुहावनी और मौलिक कल्पना की गई है कि समुद्र के हिलने का दृश्य तो आँखों के सामने आजाता है परन्तु तुलना के प्रयत्न का हमको सन्देह भी नहीं होता। “चमकती चपला न” आदि की अपन्हुति में भी हम मुसलमानियों की भयभीत मानसिक दशा को ही अधिक देखते हैं, अलंकार को उतना नहीं। व्याजस्तुति का एक बढ़िया उदाहरण नीचे दिए छंद में देखा जा सकता है—

अकबर पायो भगवन्त के तनै सों मान,

बहुरि जगतसिंह महा मरदाने सों ।

भूषण त्यों पायो जहाँगीर महासिंहजु सों
 साहजहाँ पायो जयसिंह जग जाने सो ॥
 अब अवरंगजेब पायो रामसिंहजु सों
 औरों दिन दिन पैहै कूरम के माने सो ।
 केते रावराजा मान पावें पातसाहन सों
 पावै पातसाह मान मान के घराने सों ॥

भूषण की भाषा को निःसंकोच मिश्रित भाषा कह सकते हैं ।
 ब्रज और बुन्देलखंड की भाषाओं के अतिरिक्त उसमें अरबी,
 फ़ारसी के शब्द भी बहुतायत से उपलब्ध होते हैं । जहाँ ओजविशेष
 की आवश्यकता हुई है वहाँ अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग
 हुआ है । भूषण ने जिस किसी भी भाषा के शब्दों को अपनी
 रचना में काम में लिया है उन्हें खूब अच्छी तरह बनाया बिगाड़ा
 है, यहाँ तक कि वे कभी कभी पहचान में भी नहीं आते । शब्दों को
 बिगाड़ने की यह स्वतंत्रता, हम देखते हैं, लगभग सभी कवियों में
 थोड़ी बहुत रहती है । भूषण में यह कुछ अधिक है । परन्तु दूसरे
 बहुत से कवि जहाँ प्रायः शब्द को छंद की आवश्यकता के लिए
 बिगाड़ते हैं वहाँ भूषण ने ऐसा, छंद की आवश्यकता के अतिरिक्त,
 कुछ अपनी ओजस्विनी वाणी की हुँकार के लिए भी किया है ।
 शब्दों की यह नोड़-मरोड़ तथा भिन्न भिन्न भाषाओं की खिचड़ी
 भूषण के हृद्गत ओज के अकृत्रिम, स्वाभाविक उद्गार के लक्षण
 है । ये लक्षण उनकी वीर कविता में ही पाए जाते हैं । अन्यथा,
 इनके दूसरे प्रकार के छंदों की भाषा न तो वैसी खिचड़ी ही है

और न उसमें शब्दों का वैसा तोड़-मरोड़ ही है। शिवाजी के नगर की शोभा का वर्णन करते समय भूषण की शब्दावली कितनी कोमल और प्रसादयुक्त हो जाती है सो नीचे के उदाहरणों में देखा जा सकता है—

(क) आनंद सौ सुंदरिन के कहुँ बदन इंदु उदोत हैं ।

नभ सरित से प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत हैं ।

कहुँ बावरी सर कूप राजत बद्धमनि सोपान हैं ।

जहँ हंस सारस चक्रवाक विहार करत सनान हैं ॥

(ख) कितहूँ बिसाल प्रबाल जालन जटित अंगनि भूमि हैं ।

जहँ ललित बागनि द्रुम लतनि मिलि रहे झिलमिल झूमि है ।

चंपा चमेली चारु चंदन चारिहू दिसि देखिए ।

लवली लवंग यलानि केरे लाखहूँ लगि देखिए ॥

(ग) लसत विहंगम बहु लवनित बहुभाँति बाग महँ ।

कोकिल कीर कपोत केलि कलकल करंत तहँ ।

मंजुल महारि मयूर चटुल चातक चकोरगन ।

पियत मधुर मकरंद करत शंकार भृंगगन ॥

भूपन सुबास फल-फूल-युत, छहुँ ऋतु बसत बसंत जहँ ।

इमि राजदुग्ग राजत रुचिर, सुखदायक सिवराज कहँ ॥

इसी प्रकार शृंगार के उदाहरण में भी हम भाषा का मधुर रूप देख चुके हैं। और, यह देखते हुए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भूषण की भाषा में भावों और वर्ण्य विषयों के अनुसार ही चढ़ाव-उतार होता जाता है। जिस प्रकार उनका चमत्कारविधान भावों

का सहधर्मी है उसी प्रकार उनकी भाषा भी भावों की सहधर्मिणी है।

भूषण के लिखे हुए तीन ग्रंथ अब तक प्रकाश में आ चुके हैं—शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक। इनके अतिरिक्त उनके कुछ फुटकर पद्य भी प्रकाशित हुए हैं। वैसे तो इनका कोई ग्रंथ भी प्रबंध-रूप में नहीं है, परन्तु विषय के अनुसार इन तीन रचनाओं को अलग अलग नाम से प्रबद्ध किया गया है। पता नहीं कि शिवाबावनी और छत्रसालदशक का क्रम और नाम-करण स्वयं भूषण ने ही कर दिया था, अथवा वह बाद में किया गया। परन्तु शिवराजभूषण भूषण ने क्रमबद्ध रूप से लिखा था। यह एक लक्षणग्रंथ है और इसका विषय अलंकार है। इसमें पहले अलंकारों का लक्षण देकर बाद में, स्वतंत्र छंदों में, उदाहरण दिए गए हैं। उदाहरणों का विषय शिवाजी की ही जीवनी से लिया गया है। अतः इन उदाहरणों में प्रायः सच्चा कवित्व देखने को मिलता है।

परन्तु लक्षणग्रंथ की दृष्टि से शिवराजभूषण का कोई महत्त्व नहीं है। भूषण ने उसे रीतिकाल की केवल पद्धति का पालन करने के लिए बनाया था। उसमें उनकी रुचि नहीं मालूम होती। फलतः इसमें दिए हुए अलंकारों के लक्षण अकसर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति के दोषों से युक्त हैं। बहुत जगह उदाहरण भी लक्षण के अनुसार नहीं दिए गए हैं। इस ग्रंथ में भूषण ने अपनी ओर से भी कुछ नए अलंकारों तथा अलंकार-भेदों की गणना कराई है जो उनसे पहले के कवियों द्वारा लिखे गए ग्रंथों में परिगणित नहीं हैं।

शिवाबावनी में शिवाजी के ऊपर कहे गए ५२ फुटकर छंदों का संग्रह है। छत्रसालदशक में महाराज छत्रसाल के ऊपर दस पद्य कहे गए हैं। उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भूषण के लिखे तीन ग्रंथ और भी बताए जाते हैं—भूषणहज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास; परन्तु उनका अभी तक कोई पता नहीं लगा है। इसमें संदेह नहीं कि सौ वर्ष से अधिक की आयु पाकर भूषण ने बहुत कुछ लिखा होगा।

भूषण का स्थान हिंदी साहित्य में बहुत ऊँचा है। यद्यपि उनके अतिरिक्त और भी कई कवियों ने वीर रस पर लिखा है, परन्तु उन कवियों की वाणी में भूषण का सा ओज नहीं है। इसीलिए वे प्रसिद्धि में न आ सके। पर इससे भी बड़ी बात यह है कि भूषण वीररस के ही नहीं हिंदू जाति के भी कवि हैं। अपने समय के वही सबसे बड़े जातीय कवि हैं और उस समय के प्रतिनिधि हैं। इसका एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि उनकी रचनाओं में ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप में मिलती है। शिवाजी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं का उन्होंने सच्चा उल्लेख किया है और कहीं भी भावावेश के वशीभूत होकर अतिरंजना द्वारा ऐतिहासिक सत्य को विकृत नहीं किया है। किसी कवि की लेखनी से ऐसा न होना उसके अद्भुत संयम और सत्यप्रियता का बड़ा भारी प्रमाण है। हमारा विचार है कि आजकल के स्वातंत्र्य-संग्राम के युग में भूषण के अध्ययन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १६०७, अर्थात् सन् १८५० ई० में हुआ था। ये काशी के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमी-चन्द्र के वंशज और सुकवि बाबू गोपालचन्द्र (उपनाम गिरिधर-दास) के पुत्र थे। इनके दुर्भाग्य से, जब ये पाँच वर्ष के थे तभी इनकी माता की मृत्यु होगई और दस वर्ष की आयु में ये अपने पिता से भी बिछुड़ गए।

इस कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई। वैसे भी पढ़ने-लिखने में इनका अधिक मन नहीं लगता था। तथापि, बाद में, अपनी प्रतिभा के कारण स्वाध्याय से ही बाबू हरिश्चन्द्र ने अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत के ये अच्छे ज्ञानी थे। इन्होंने बँगला, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद भी किया है। इन्होंने शास्त्रादिक का भी अध्ययन किया था और 'नाटक' के ऊपर शास्त्रीय ढंग का एक बड़ा सा लेख भी लिखा था जिसमें मौलिकता की काफ़ी मात्रा है। प्राचीन शास्त्र की अनेक अप्रयोजनीय या असुविधाजनक रूढ़ियों का इन्होंने बहिष्कार किया। अपने इस लेख में उन्होंने लिखा है—

“किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता ।

...

...

..

...

“...नाट्यकलाशैल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है । पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती ।

“अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय ग्रहण करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है । अब नाटक में कहीं ‘आशीः’ प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं ‘प्रकरी’, कहीं ‘विलोभन’, कहीं ‘संफेट’, ‘पंचसंधि’ वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही । संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है । क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है ।”

परंतु साथ ही वे यह भी लिखते हैं—“नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो समस्त रीति ही परिस्थाय करे यह आवश्यक नहीं है,

क्योंकि जो सब प्राचीन रीति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी”

इन उद्धरणों से भारतेन्दु के विचार-स्वातंत्र्य, प्रगतिशीलता, समीक्षक-बुद्धि आदि उन गुणों का आभास मिलता है जो उनके अधिकांश जीवन-कार्यों के सदा प्रेरक रहे। भारतेन्दु ने अधिक आयु नहीं पाई—सन् १८८५ में, ३५ वर्ष की आयु में ही, उनका देहावसान होगया। इसमें से भी प्रारंभ के १६-१७ वर्ष निकाल देने चाहिए, क्योंकि इनका सार्वजनिक जीवन इनकी जगन्नाथ-यात्रा के बाद से आरंभ होता है जो इन्होंने सन् १८६५-६६ में की थी। केवल १७-१८ वर्ष के भीतर इन्होंने जितना अधिक कार्य कर दिखाया उतना किसी साधारण व्यक्ति से संभव नहीं। इन्होंने कई एक स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि स्थापित किए तथा कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं। कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं, जिनमें स्वयं पारितोषिक दिया करते थे, तथा सब मिलाकर लगभग पौने दो-सौ ग्रन्थ बनाए और ७५ ग्रन्थों के बनने में प्रेरक का कार्य किया।

ईश्वर-दत्त प्रतिभा तो उनमें थी ही, परन्तु उनके मन और हृदय के विकास में उनके भ्रमणों का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। उन्होंने यात्राएँ खूब कीं जिससे जगह-जगह के रीति-रिवाज, विचार-प्रणाली, नई सभ्यता और उसमें उत्पन्न नई समस्याओं का अध्ययन करने का उन्हें अच्छा मौका मिला। वे बड़े भावप्रवण थे और उनका हृदय स्वाभाविक सहानुभूति, सरसता और सत्य से भरा हुआ था। फलतः उनकी यात्राओं के परिणाम में हम उन्हें

बड़े ऊँचे देशभक्त, समाज-सेवी और समाज-सुधारक के रूप में देखने हैं। उनका साहित्य देश के लिए दर्द से भरा हुआ है, समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य करता है, अथवा फिर उनका उपहास करता है और मर्मस्थलों पर कोमलता तथा सहृदयता से स्पर्श करता है। साहित्य में भी उन्होंने सुधार और पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने खड़ी बोली गद्य का एक प्रांजल और सुमंस्कृत रूप स्थापित किया तथा ब्रजभाषा-कविता की अव्यंजकता, अवोध्यता को हटाया— उसमें से परंपराभुक्त, दुर्बोध्य शब्दावली को निकाल कर सरस भावुक कविता की नींव डाली। नाटक-रचना का अवतार भी हिन्दी साहित्य में इन्हीं से होता है। इनके पहले के जो दो एक नाटकों के नाम सुनाई देते हैं, वे नगण्य से हैं।

यों तो भारतेन्दु ने ईश्वरभक्ति, राजभक्ति, इतिहास आदि के संबंध में भी यथेष्ट लिखा है, एक-दो अधूरें उपन्यासों की भी रचना की है, परन्तु उनका पूर्ण गौरव कवि तथा नाटककार—विशेष रूप से नाटककार—की हैसियत से ही है।

मिश्रबंधुओं ने अपने हिन्दी-नवरत्न में इनके १६ नाटक गिनाए हैं। रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार भारतेन्दु ने १४ नाटक लिखे। इन नाटकों में कई तो संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेज़ी के अनुवाद हैं, कुछेक अपूर्ण हैं। रायबहादुर साहब के कथनानुसार इन्होंने सात मौलिक नाटकों की रचना की। संभवतः अपूर्ण मौलिक नाटकों की भी इनके साथ ही गायना कर मिश्रबंधुओं ने इस संख्या को नौ बतलाया है।

यद्यपि भारतेन्दु अनुवाद कर्म में भी पूर्ण सफल हुए हैं—उनके अनूदित नाटकों में मौलिक रचना का सा आनन्द आता है—नथापि उनके निजी गुणों की ग्योज उनकी मौलिक रचनाओं में ही की जा सकती है। “वैदिक हिंसा हिंसा न भवति”, ‘सत्य हरिश्चन्द्र’, ‘चन्द्रावली’, ‘भारत दुर्दशा’, ‘नीलदेवी’, ‘विषस्य विष-मौषधम्’ और ‘अन्धेर नगरी’ मौलिक नाटक है। इनमें ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ और ‘चन्द्रावली’ बहुत प्रसिद्ध हैं, और स्वयं भारतेन्दु को भी वे बहुत पसन्द थे। सत्य भारतेन्दु का जीवन व्रत था। सत्य हरिश्चन्द्र को भगवदर्पण करते हुए वे कहते हैं—तुम्हारे सत्य-पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यहाँ इसमें दिखाया गया है’। नाटक के अन्दर नारद जी कहते हैं—

चन्द टरै सूरज टरे, टरै जगत ब्योहार ।

पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न सत्यविचार ॥

यहाँ राजा हरिश्चन्द्र के उल्लेख में कवि हरिश्चन्द्र का भी संकेत है, क्योंकि प्रस्तावना में सूत्रधार पहले ही कह चुका है।

जो नृप गुन हरिचन्द मैं जगहित सुनियत कान ।

सो सब कवि हरिचन्द मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान ॥

इसी नाटक का भरन-वाक्य है—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होई, हरिपद रति रहे ।

उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहे, कर-दुख बहे ॥

बुध तजहि मत्सर, नारि-नर सम होहि, सब जग सुख लहे ।

तजि ग्रामकविता मुकविजन की अमृत बानी सब कहे ॥

नाटक के उपक्रम में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना स्कूलों के लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए बनाई गई थी, फलतः इसमें शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै' आदि जैसी बातें लिखना—वह भी एक ऐसे समय में जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता जनता को उतनी भी प्राप्त नहीं थी जितनी कि आज-कल है—भारतेन्दु की परम देशभावना निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है।

उत्कट जानीय भावना तथा देश-हितैषिणा की सच्ची लगन में झुनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है, पूर्व गौरव की स्मृति, आत्मग्लानि, लांछना, व्यंग्य, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ समय पर अपनी क्रोडा क्रिया करती हैं। 'भारत-दुर्दशा' पूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और उसमें ये सब वृत्तियाँ हृदय के सच्चे संयोग के साथ स्थल स्थल पर दिखाई देती हैं। छंटे अंक के आरंभ में भारत-भाग्य कह रहा है—

हाय भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर उससे ऐसा ही रूठा है ? हाय क्या भारत के वे दिन फिर न आवेंगे ? हाय यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था।

भारत के भुज बल जग रञ्जित, भारत-विद्या लहि जग सिञ्चित।

भारत तेज जगत बिस्तारा, भारत-भय कंपत संसारा।

जाके तनिकहि भौंह हिलाये, थर-थर कंपत नृप डर पाए।

जाके जय की उज्ज्वल गाथा, गावत सब महि मंगल साथ।

...
 कहा करी तकसीर तिहारी, रे बिधि रुष्ट याहि की बारी ।
 सबै सुखी जग के नर नारी, रे बिधिना भारतहि दुखारी ।

...
 हाय चिनौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहि मझारी ।
 जा दिन तुव अधिकार नसायो, तेहि दिन क्यों नहि धरनि समायो ।
 भारत-दुर्दैव ने पूर्णा रूप से भारत का पीछा पकड़ लिया है । वह
 भारत को खाक में मिला देने के लिए कटिबद्ध है और उसने
 अपनी सेना तैयार कर रक्खी है । अपनी तैयारी पर वह इस प्रकार
 सन्तोष प्रकट करता है—

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है । एक तस्सा बाकी है ।
 अबकी हाथ में वह भी साफ़ है । भला हमारे बिना और ऐसा कौन
 कर सकता है कि अँग्रेजी अमलदारी में भी हिन्दू न सुधरें ! लिया भी
 तो अँगरेजों से औगुन ? हहाहा ! कुछ पढ़े-लिखे मिल कर देश सुधारा
 चाहते हैं ! हहा हाहा ? एक चने से भाड़ फोड़ेंगे । ऐसे लोगों को
 दमन करने को मैं ज़िले के हाकिमों को न हुकम दूँगा कि इनको
 डिसलायट्री में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके
 जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब
 दो । है ! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख ! यह
 क्यों ? मैं अपना फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ ।
 (नेपथ्य की ओर देख कर) अरे कोई है ? सत्यानाश फौजदार को तो
 भेजो ।

रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि भारत-दुर्देव के सैनिक हैं। ये सब अपने अपने उपाय तथा कारनामों का बयान करते हैं। आलस्य कहता है—

हहा ! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पी पोस्त तो या कूँडी के उस पार या इस पार। ठीक है.....

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।

मर-जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।

बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा।

बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।

सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो।

पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।

... ..

और क्या। काजी जी दुबले क्यों हैं, शहर के अँदशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरि छाँड़ि नहि होउब रानी।' आनन्द से जन्म बिताना। बस खाना.....बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। तवंगरी बदिलस्त न बमाल। दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त.....

भारत की दुर्दशा को देखकर कवि जब बहुत ही कातर और विह्वल होता है तो 'नीलदेवी' मे करुणानिधि का आँचल पकड़ना है—

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए ।

जागत नेकु न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए ।

यक दिन वह हो जब तुम छिन नहि भारत हित बिसराए,

इत के पसु-गज को भारत लखि आतुर प्यादे धाए ।

यक-यक दान, हान नर के हित तुम दुख मुनि अकुलाई,

अपनी संपत्ति जानि इनहि तुम गह्यो तुरंतहि धाई ।

प्रलय-काल सम जौन सुदरसन असुर-प्राण-संहारी,

ताकी धार भई अब कुठित हमरी बेर मुरारी ।

इसकी अन्तिम पंक्ति में जितनी वेदना और शिकायत भरी हुई है उसका अनुभव एक विप्रलब्ध आर्त हृदय को सहज में ही हो सकता है—परन्तु केवल रोने से या दुर्दशा को देखते रहने से क्या कुछ सधता है ? इसलिए—

चलहु बीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ,

लेहु म्यान सां खरग खाचि, रन-रंग जमाओ ।

परिकर कसि काट उठौ धनुस पै धरि सर साधौ,

केसरिया बानो सजि सजि रन-कंकन बाँधौ ।

जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारै,

तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद विचारै ।

तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी,

सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ।

तनिकहु संक न करहु, धर्म जित जय तित निश्चय,

पदतल इन कहँ दलहु कीट-वृन-सरिस जवन-चय ।

तथापि यह नहीं समझा जाना चाहिए कि भारतेन्दु राजद्रोही थे । देशभक्ति का अर्थ राजद्रोह नहीं है, यद्यपि भारतेन्दु को अपनी स्पष्ट-वादिता के (तथा कुछ दूसरों के मात्सर्य के) कारण थोड़े-से राज-कोप का भी भाजन बनना पड़ा था । उन्होंने राजभक्ति पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं तथा कई नाटकों में भी राजभक्ति-सूचक उक्तियों का समावेश किया है । वास्तव में भारतेन्दु के क्षोभ का सबसे बड़ा कारण थीं भारतवासियों की अनेक हानिकारक अंध-परंपराएँ, दुर्गुण-वृत्तियाँ, तथा अँगरेज़ी शासन में पैदा हुई भारतीयों की अकल्याणकारी अनुकरण-प्रवृत्ति । ‘नीलदेवी’ उनका एक प्रमुख जातीय नाटक है और इसकी रचना में अपने कई अन्य नाटकों की अपेक्षा वे अधिक सफल भी हुए हैं । इसकी प्रस्तावना में अपने ध्येय को उन्होंने इस तरह समझाया है—

“आज बड़ा दिन है । किस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है । किंतु मुझको आज उल्टा और दुःख है । ... जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेद-सिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षाण कटि-देश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सांघी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आता है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है । इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें ।

किंतु और बातों में जिस भाँति अंगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत गृहस्थ जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान होनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुठपरंपरामात्र है और कुछ नहीं है।”

अपनी भारत-हितैषिता के कारण अंग्रेजों के कृपापात्र राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द से इनका सैद्धांतिक विरोध था, यद्यपि वैसे ये उनको अपने गुरु के समान भी मानते थे। दोनों में भाषा-संबंधी भी बड़ा भारी मत-भेद था। राजा सहब की भाषा उर्दू-प्रधान थी तो इनकी यथार्थ हिन्दी। दोनों के भेद और विरोध इतने स्पष्ट थे कि वे व्यवहार तक में दृष्टिगोचर होते थे। कहा जाता है कि बाबू हरिश्चन्द्र को जनता द्वारा ‘भारतेन्दु’ की उपाधि दिया जाना, अपने वास्तविक रूप में, राजा साहब को सरकार द्वारा ‘सितारे-हिन्द’ की उपाधि मिलने की प्रतिक्रिया-मात्र था।

भ्रम हो सकता है कि भारतीय दुर्दशा के संबंध में इनकी यह करुणा तथा इनके व्यावहारिक जीवन में विरोधों की बहुलता ने इनकी चित्तवृत्ति को बहुत गंभीर अथवा उदासीन बना दिया होगा। पर वस्तुतः वे बड़े जिंदादिल, विनोदप्रिय, और जिसे बोलचाल की भाषा में ‘फक्कड़’ कहते हैं सो, थे। इन्हे तरह-तरह के शौक थे—

जैसे गाना-बजाना, नाच-रंग, खेल-तमाशे, कबूतर-बाज़ी आदि । कोई कैसा भी उदास-चित्त मनुष्य इनके पास पहुँच जाए, पर वह हँसता ही लौटना था । ‘फक्कड़’ ऐसे थे कि एक बार काशी-नरेश ने इन्हें इनकी फ़िजूलखर्ची के संबंध में कुछ समझाया तो इन्होंने उत्तर दिया, “महाराज, इस संपत्ति ने मेरे पूर्वजों को खाया है । अब मैं इसे खा कर छोड़ूँगा ।” इनकी ज़िदादिली इनके साहित्य को भी प्रभावित किए बिना नहीं रही है । ‘अंधेर-नगरी’ और ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ इनके दो व्यंग्यात्मक प्रहसन हैं । तथा ‘विपश्य विषमौपधम्’ एक राज्य की तात्कालिक घटना को लेकर हास्य तथा व्यंग्य के ढंग पर लिखा गया है । दो एक उदाहरण इस कथन को स्पष्ट कर देंगे, यथा—

(१) चूरन भमलबेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी ।

मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना ।

हिन्दू-चूरन* इसका नाम, बिलायत-पूरन * इसका काम ।

...

चूरन भमले सब जो खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें ।

चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते ।

चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हज़म कर जाते ।

चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन रोग ।

* इसकी चुटीली चुटकी द्रष्टव्य है । ‘हिंदू’ नामक चूर्ण, अथवा हिंदुओं को चूर्ण करने वाला । तभी तो बिलायत का घर भरने वाला है ।

चूरन खावें एड्डिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात ।

चूरन पुलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते ।

(अंधेर नगरी)

(२) अंधेर-नगरी अनवृक्ष राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा ।

... ..

साँचे मारे-मारे डोलें, छली-दुष्ट सिर चाढ़ि चढ़ि बोलें ।

प्रकट सभ्य अंतर छलधारी, सोई राज-सभा बल भारी ।

साँच कहैं ते पनही खावें, झूठे बहुविधि पदवी पावें ।

भीतर होइ मलिन की कारो, चहिणै बाहर रँग चटकारो ।

धर्म-अधर्म एक दरसाई, राजा करै सो न्याव सदाई । (अंधेर०)

(३) राजा—बैठिए

वेदान्ती—अद्वैतमत के प्रकाश करनेवाले भगवान् शंकराचार्य इस
माया-कल्पित मिथ्या संसार से तुझको मुक्त करें ।

विदूषक—क्यों वेदान्तीजी, आप मांस खाते हैं कि नहीं ?

वेदान्ती—तुझको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदू०—नहीं, कुछ प्रयोजन तो नहीं है । हमने इस वास्ते पूछा कि
आप वेदान्ती अथात् बिना दाँत के हैं सो भक्षण कैसे
करते होंगे ।

(वेदान्ती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया । सब लोग हँस पड़े ।)

विदू०—(बंगाली से) तुम क्या देखते हो ? तुम्हें तो चैन है ।

बंगालीमात्र मच्छ-भोजन करते हैं ।

बंगाली—हम तो बंगालियों में वैष्णव हैं । नित्यानन्द महाप्रभु

के संप्रदाय में हैं और मांस-भक्षण कदापि नहीं करते और
मच्छ तो कुछ मांस-भक्षण में नहीं ।

(वैदिकी हिंसा०)

(४) मीन काटि जल धोइए, खाए अधिक पियास ।

अरे तुलसी प्रीत सराहिए, मुए मोत की आस ॥

राम रस पोओ रे भाई

अरे मीन पीन पाठीन पुराना भरि भरि भार कहारन आना ।

महिप खाइ कर मदिरा पाना अरे गरजा रे कुंभकरन बलवाना ॥

रामरस पीओ रे भाई

... ..

अरे एकदशी के मछली खाई ।

अरे कबौ मरे बैकुंठे जाई ॥

रामरस पीओ रे भाई

(वैदिक हिंसा ०)

(५) सन् १८०२ में जो अहदनामे हुए है उनमें तो सरकार को गायकवाड़ की खानगी बातों में बिलकुल अधिकार है । फिर यह रोना क्या ? हम तो जानते हैं कि जब मल्हारराव ने लक्ष्मीबाई से विवाह किया तभी से उसकी बड़ी बहन दरिद्राबाई भी इनके ताक में थी और समय पाकर अपनी बहन के पास आ गई । शास्त्रों में लिखा है कि लक्ष्मी दरिद्रा दोनों बहन हैं । पर भाई ! यह कन्या फली नहीं, मुद्राराक्षस की विपकन्या हो गई ।....

और नहीं तो क्या ! या बगल में माहताब हो या आफताब, या

साकी हो या शराब । भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के ? एक बात में तो ये रावण से बढ़ गए कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया...मुहम्मदशाह और वाजिद अली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसा छूटेगा । विधवा-विवाह सब कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती-विवाह निकाला । भला मुसलमान होता तो तिलाक दिलवा के भी हलाल कर लेता.....

(ऊपर देख कर) क्या कहा ? और खानदेश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया । लो भया तब क्या ? हहाहा ! भला तब हम क्या इतना झँखते थे । अहा धन्य है सरकार ? यह बात कहीं नहीं है । दूध का दूध पानी का पानी । और कोई बादशाह होता तो राज ज़स हो जाता । यह इन्हीं का कलेजा है । हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे । अहा ! हमारी तो पुरोहिती फिर जगो । हमें मल्हारराव से क्या काम, हमें तो उस गद्दी से काम है । “कोड नृप होड हमैं का हानी” धन्य अंगरेज ।

... .. (विपश्य विपमौषधम्)

ऊपर के पाँचवें उदाहरण में प्रसंग परस्त्री-गमन के कारण महाराज मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने का है । ‘विपश्य विपमौषधम्’ एक ‘भाषा’ रचना है जिसमें एक ही व्यक्ति आरंभ से अन्त तक बोलता है । यहाँ भंडाचार्य नामक पात्र बोल रहा है । इसकी उक्ति में स्पष्ट अर्थ तो जो है सो है ही; परन्तु बारीक व्याज-स्तुति की मिल-मिल झलक ही, वास्तव में, इस उक्ति का प्राण है ।

साहित्यिक सौन्दर्य—सरसता, भावुकता, कल्पना, चमत्कार—की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं। 'चन्द्रावली' में तो विशेषतः ये पूर्ण कवि-रूप में अवतरित हुए हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गंगा का निम्नलिखित वर्णन कितना मनोमोहक है। प्रत्यक्ष-चित्रण की पूर्ण गरिमा है, चित्र में प्राण जैसे छलछला रहे हों।—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति ।
 बिच बिच छहरत वृंद मध्य मुक्ता मनि पोहति ।
 लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत,
 जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत, मिटावत ।
 सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सबके मन भावत,
 दरसन, मजन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत ।
 कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिधर सम सोहत,
 कहूँ छतरा, कहूँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत ।
 धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका,
 घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका ।
 धावत सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत,
 बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ।
 सुन्दरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत,
 कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत
 दाँठि जहाँ जहँ जाति, रहति तितही ठहराई,
 गंगा-छबि हरिचन्द्र कछु बरनी नहि जाई ।

‘कहूँ बँधे नवघाट से’ लेकर अन्त तक पढ़ते-पढ़ते पाठक के नेत्रों के सामने एक दृश्य-सा उपस्थित हो जाता है जो कुछ क्षण के लिए तल्लीनता की अवस्था उत्पन्न कर देता है। इसमें ‘बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत’ में जो काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा का सम्मिलन है वह कोमल कल्पना की एक अपूर्व सरसता और मौलिकता का प्रसाद है।

‘चन्द्रावली’ में प्रेम-व्यथित नायिका अपनी दशा का वर्णन करती है—

मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सां सदा धोवती हैं ।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी,
कुल की कुल लाजहि खोवती हैं ॥
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै,
बिरहागम रैन सँजोवती हैं ।
हमही अपुनी दशा जानें सखी,
निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं ॥

अन्यत्र वही कह रही है—

जग जानत कौन है प्रेम-बिधा,
केहिसों चरचा या वियोग को कीजिए ।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोउ,
क्यों बिन बात की शरहि लीजिए ।
नित जो हरिचन्द जू बीतै सहै,
बकि कै जग क्यों परतीतहि छोजिए ।

सब पूछत मौन क्यों बैठि रही,

पिया प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए ।

प्रकृति-वर्णन में सन्देह के साथ उत्प्रेक्षा का तथा दृश्यचित्र का निम्न पंक्तियों में अच्छा समावेश है । यह कालिन्दी का वर्णन है—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए ।

झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाए ॥

किधौँ मुकुर मैं लखन उझकि सब निज निज शोभा ।

कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥

मनु आतप बारन तीर कों सिमिटि सबै छाए रहत ।

कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नन मन सुख लहत ॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भौँतिन ।

कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनो लागि रही पौँतिन ॥

मनु दग धारि अनेक जमुन निरखत व्रज शोभा ।

कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा ॥

कै करिकै कर बहु पीय को ढेरत निज ढिग सोहई ।

कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥

... ..

कूजत कहूँ कलहंस कहूँ मज्जन पारावत ।

कहूँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत ॥

चक्रवाक कहूँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत ।

सुक पिक जल कहूँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥

कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत ।

जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥

कहुँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई ।

उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई ॥

पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए ।

रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराए ॥

मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि ।

सतगुन छाथौ कै तीर मैं, ब्रज निवास लखि हिय हरसि ॥

प्रकृति के भिन्न भिन्न पदार्थों को देखकर प्रिय के भिन्न भिन्न अंगों का स्मरण होना, भावना के अतिशय होने पर, प्रकृति को प्रिय-मय बनाना है; प्रकृति गोया कि प्रिय का छाया-चित्र है। “देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छारे मेरे हिय फहरि-फहरि उठै” जैसी कविता इसी प्रकार के छायाचित्रों को प्रस्तुत करती है। प्रकृति का संबोधन करके प्रिय का समाचार पूछने वाली नायिका उन्मादिनी हो सकती है, पर जो कवि उससे ऐसा कराता है वह तो प्रकृति में भी मानव-प्राणों के स्पन्दन को ही देखता है, प्रकृति को मानवीय सहानुभूति से समृद्ध ही समझता है। और, सचमुच, प्रकृति से यदि मनुष्य को सहानुभूति और आश्वासन की प्राप्ति नहीं होती तो मनुष्य को प्रकृति से सरोकार ही क्या है? तुलसीदास के विरही राम ‘खग-मृग और मधुकर-श्रेणी’ से सीता का पता पूछते समय कोरा असंबद्ध प्रलाप नहीं करते हैं, उनके आचरण में एक परम सूक्ष्म जीवन-तन्तु की समस्या, समीक्षा

और समाधान, तीनों तत्व, एक साथ निहित हैं। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली भी अपने प्रिय की खोज में 'अहो, अहो' की पुकार मचाती हुई 'बन के रूख', कदंब, कुंज, वन, लता, जमुना, खग, मृग, गोवर्धन आदि सबका आह्वान करती फिरती है। भारतेन्दु ने प्रकृति और मानव जीवन के पारस्परिक बिंब-प्रतिबिंब भाव को समझने की चेष्टा की है, और इस सरस, सकरुण, संयोगान्त नाटिका ('चन्द्रावली') में उनको प्रकृति-दर्शन का सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुआ है। तथापि उनके समस्त रचना-समूह पर दृष्टिपात करने से यही अनुमान होता है कि अधिकतर वे प्रकृति की ओर से उदासीन ही थे। वे प्रकृति के कवि नहीं थे।

भारतेन्दु आशु कवि थे। वे तत्काल कविता बनाते थे। और वे जन्मतः ही कवि थे। पाँच वर्ष की उम्र में ही उन्होंने यह दोहा बनाया था—

लै ब्यौंड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान ।

बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान ॥

वे उर्दू के ढंग की शायरी भी रच सकते थे।

ऊपर जितने गद्य और पद्य के उदाहरण दिए गए हैं उन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने दोनों प्रकार की भाषा के रूप-गठन में क्या कार्य किया है। उनसे पहले खड़ी बोली का कोई यथार्थ रूप ही न था। उसमें ब्रजभाषा का थोड़ा-बहुत मिश्रण तो रहता ही था, परन्तु, प्रकारान्तर में भी, उसकी कोई निर्दिष्ट रूपरेखा न थी। 'प्रेमसागर' में एक नमूना देखने में आता है तो 'रानी

केतकी की कहानी' में इससे बिलकुल भिन्न। भारतेन्दु ने शुद्ध खड़ी बोली लिखी जिसकी जंग खाई हुई शृंगलाओं को तोड़ कर इन्होंने उसमें लचक पैदा की। यद्यपि यह उर्दूमिश्रित हिन्दी के पक्षपाती नहीं थे तथापि कहीं कहीं चालू उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में इन्होंने अधिक संकोच भी नहीं किया। साथ ही पात्रविशेष के मुख से उसकी विशेषता दिखाने के लिए इन्होंने उक्ति के बीच में कहीं कहीं अंगरेज़ी शब्द जैसे पोलिसी, डिसलायल्टी, मेडल आदि भी कहलाए हैं। इनके गद्य में जटिल अलंकारस्पृहा अधिक देखने में नहीं आती। और नाटकों में अधिकतर बोलचाल की चुस्ती दिखाई देती है। भारतेन्दु की भाषा उनके समसामयिक तथा अनुगामी लेखकों के लिए आदरणीय व अनुकरणीय हुई।

पद्य के लिए इन्होंने ब्रजभाषा को ही अपनाया। यह शायद इसलिए कि ब्रजभाषा में माधुर्य अधिक है, अथवा इसलिए कि इनके समय तक खड़ी बोली साहित्यिक भाषा की पदवी तक न पहुँच सकी थी। परंतु इस ब्रजभाषा में भी उन्होंने सुधार किया। शब्दों की तोड़-मरोड़, जो पिछले कवियों में अधिक बढ़ गई थी, इन्होंने बिलकुल भी नहीं की। इनकी ब्रजभाषा सरल, सुबोध और प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से युक्त है। यदि कहीं कोई दुर्बोधता आती भी है तो केवल वहाँ जहाँ वह पिछले समय की कृत्रिम अलंकार-प्रणाली का अनुसरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे चन्द्रावली अपने नेत्रों को हिंडोला बनाती हुई कहती है—

पल पटुला पै डोर प्रेम की लगाय चारु

आभा ही के खंभ होय गाढ के धरत हैं ।

सुमका ललित कामरूपन उछाह भरयो

लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं ॥

हरीचंद औसू दग नीर बरसाई प्यारे

पिया गुन गान सो मलार उचरत हैं ।

मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाई सदा

बिरह डिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं ॥

अन्यथा तो भारतेन्दु मे भावुकता और सरसता ही सबसे अधिक है जिसके कारण उनकी रचनाएँ अति मोदकारी और प्रभावशालिनी हो गई हैं। इन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अंतर की प्रेरणा से भाव-मग्नता से ही लिखा है। अतः इनकी नाटकीय और काव्य रचनाओं मे तत्कालीन स्पर्श और प्रभाव की शक्ति है। काव्य द्वारा धनो-पार्जन की लालसा इन्हे नहीं थी, यह इतने उदार थे कि स्वयं दूसरे कवियों—लेखकों को दिया करते थे। परंतु यश की लालसा का होना असंभव नहीं, क्योंकि इन्हे अपने गुणों और शक्तियों का ज्ञान था जिन्हें अपने सूत्रधारों के मुख से इन्होंने प्रायः कहलवाया है, यथा

परम प्रेमनिधि रसिक वर, अति उदार गुन खान

जग जन रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान ।

जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस,

ता सुत श्रीहरिचंद को, को न नवावै सीस ।

जग जिन तृन सम करि तज्यो, अपने प्रेम प्रभाव,

करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव ।

चंद टरे सूरज टरे, टरै जगत के नेम,
यह दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरै न भविचल प्रेम ।

भारतेंदु के अनुवादों में भी मौलिक रचना का सा आनंद आता है, यह पहले कहा जा चुका है । यहाँ एक उदाहरण (मुद्रा-राक्षस के नांदी-पाठ में से) दिया जाना है —

कौन है सीस पै चंद्रकला कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी,
हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान पियारी ।
नारिहि पूछत चंद्रहि नाहि कहै बिजया जदि चंद्र लबारी,
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरी सब पीर तुम्हारी ।
पाद प्रहार सां जाइ पताल न भूमि सबै तनु बांझ के मारे,
हाथ नचाइबे सो नभ में इत के उत दूटि परें नहिं तारे ।
देखन सों जरि जाहि न लोक न खालत नैन कृपा उर धारे,
यो थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरी दुख सर्व तुम्हारे ।

भारतेंदु हिंदी के लिए एक देवदूत या पैगंबर के रूप में अव-
तीर्ण हुए थे । नाटक-रचना के तो वे जन्मदाता है ही, परंतु
यदि कहा जाय कि हिंदी-भाषियों में साहित्यिक अभिरुचि एवं
साहित्यिक जिज्ञासा उत्पन्न करके एक प्रकार से आधुनिक हिन्दी
साहित्य के भी प्रतिष्ठापक वही हैं तो कोई अत्युक्त न होगी ।
क्या हम निश्चय के साथ बना सकते हैं कि यदि भारतेंदु का
अवतार न हुआ होता तो हिन्दी के पिछले ५०-६० वर्षों का क्या
इतिहास बना होता ?

भारतकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरणगुप्त का जन्म संवत् १९४३ मे हुआ । ये अग्रवाल वैश्य हैं और चिरगाँव जिला भाँसी के रहने वाले हैं । वहीं इन्होंने एक प्रेस भी खोल रक्खा है और अपनी पुस्तके स्वयं ही प्रकाशित करते हैं । गुप्तजी अपने को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का शिष्यवन् समझते हैं, ऐसा कहा जाता है । जब द्विवेदीजी 'सरम्बती' का संपादन करते थे तब गुप्त जी ने अपनी कविताएँ उक्त पत्रिका में प्रकाशित कराना आरंभ किया था । इनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना 'भारत-भारती' सं० १९६६ मे प्रकाशित हुई जिससे इनकी एकदम प्रसिद्धि होगई । गुप्तजी ३० वर्ष से हिन्दी सेवा कर रहे हैं । इनकी अब तक लगभग तीन दर्जन छोटी-बड़ी पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे एक महाकाव्य, कई एक खंडकाव्य, कुछ फुटकर रचनाएँ, दो या तीन नाटक तथा पाँच या छे पद्यबद्ध काव्यानुवाद हैं ।

गुप्तजी की मौलिक रचनाओं से उनके व्यक्तित्व के संबन्ध मे हमें कई आवश्यक तथ्य प्राप्त होते हैं जिनकी कि मूलभूत प्रेरकशक्ति ही उनके निर्मित साहित्य की रूपविधात्री है । सर्वप्रथम हम इनकी भगवद्विषयक भावनाओं को देखेंगे ।

अधिकांश लोग ईश्वर के संबन्ध मे जिस प्रकार की सगुण निर्गुण मिश्र धारणाएँ रखते हैं, सामान्यतः उनको अमान्य न करते हुए गुप्तजी विशेषतः साकार राम के अनन्य भक्त हैं । दाशरथि राम

इनके इष्टदेव हैं। इन इष्टदेव के प्रति इनकी भक्तिभावना इतनी गहरी है कि उसकी तीव्र संवित्ति में ये परोक्ष ढँग से निराकार वादियों, और प्रत्यक्ष में किसी रामेतर ईश्वर, को क्षमायाचना-पूर्वक प्रत्याह्वान तक करने को तैयार हैं। ये पूछते हैं और फिर कहते हैं।

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?

विश्व में रमे हुए नहीं सभी कही हो क्या ?

तब मैं निराश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें ;

तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।

इनके राम कृष्ण से भिन्न नहीं है और गुप्तजी ने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कह कर उपलक्षित भी किया है (यथा, युधिष्ठिर के इन शब्दों में—'स्वयं हरि है वे पुरुषोत्तम') तथापि इनका हृदय तुलसीदासजी की भाँति, राम के रूप से ही द्रवित होता है, जैसे—

धनुर्वाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग ।

मुक्ष पर चढ़ने से रहा , राम । दूसरा रंग ॥

गुप्तजी के हृदय की इस राम-मयता का एक सबल प्रमाण यह है कि इनकी जो रचनाएँ महाभारत के कथानकों के आधार पर हैं उनमें भी मंगलाचरण का पद्य प्रायः रामोन्मुख या रामचरितोन्मुख ही रहता है। इनका यह राम अपने प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी भी, रूप में, पूर्ण परब्रह्म है और अपनी माया के खेल खेलता रहता है। राम सर्वत्र व्याप्त है—'रमा है सब में राम'—और उस कौतुकी को संबोधित करके गुप्तजी कहते हैं—

अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया ।

खोलें जब तक पलक, कौतुकी, तुमने पेड़ लगाया ॥

भौंति भौंति के फूल खिले हैं, रंग रूप रस गंध मिले हैं ।

भौंरे हर्ष-समेत मिले हैं, गुंजारव है छाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल ०

यह जो भग्नमधुर फल लाया, उसने किसे नहीं ललचाया ।

वह पछताया जिसने खाया, और न जिसने खाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल ०

फल में स्वाद, सुगन्ध कुसुम में, पर है मूल कहाँ इस द्रुम में ?

राम तुम्हारी माया, अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया ॥

निर्गुण से सगुण साकार बन कर 'लीलाधाम' 'अखिलेश'
'राम' अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देता है, जिसमें उसका उद्देश्य है—'पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिए भू-भार को ।' उसकी भक्तवत्सलता कवि को दामभाव की ओर प्रवृत्त करती है, परन्तु उस भक्तवत्सलता की उदारता में एक और भी अनुभव होता है—

डरता था मैं तुझसे स्वामी, किन्तु सखा था तू सहगामी ।

मैं भी हूँ अब क्रीड़ा कामी

जिसके कारण प्रियतम और प्रियतमा का संबंध भी दूर नहीं रह जाता—

अच्छो आँख मिचौनी खेली ।

बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली ॥

इस संबंध में उलहना देने का भी अधिकार कवि अपना लेता है—

तुम्हीं भर देते हो प्याला ।

और बताने लगते हो फिर तुम्हीं मुझे मतवाला ॥

तथा विश्रंभ की अवस्था का अनुभव करता हुआ, बेतकल्लुफ़ बनता हुआ सा, उससे पूछता है—

बतला दो संकोच छोड़ कर, तुम किसमें प्रसन्न होगे ।

मुझ से अपने को लोगे तुम, अथवा मुझको ही लोगे ॥

परन्तु समय समय पर इन भिन्न भिन्न भावनाओं के उठने पर भी, गुप्तजी का मुख्य भाव तो दामभाव तथा भक्ति का ही है; इनके स्फुट संग्रह भंकार से इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का पता मिलता है । दासभाव की भक्ति के साथ दैन्य का जो संयोग रहा करता है वह भी गुप्तजी में हमें दिखाई देता है, यथा—

आया यह दीन आज चरण-शरण आया ।

हाय, सौ उपाय किए फल न एक पाया ॥...

सर्व अहंकार गर्व, नाथ हुआ आज खर्व,

पाऊँ अब प्रगति पर्व, मिटे मोह माया ॥ आया यह दीन० ॥

भक्ति की अनन्यता का रूप हमें निषाद-राज के निम्नलिखित वचनों में मिलता है जिस समय कि गंगा पार उतरने के बाद सीता उसको स्वर्ण मुद्रिका भेंट देने लगी थीं—

..... यह कैसी कृपा ?

न हो दास पर देवि, कभी ऐसी कृपा ।

क्षमा करो, इस भौंति न तज दो मुझे ।

स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे ॥

उस भक्तवत्सल लीलाधाम लोकेश को अपना इष्टदेव बनाने के बाद यह स्वाभाविक हो जाता है कि कवि उसी के चरित्र से अपने आदर्शों का भी संग्रह करे जो कि 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' है और जो इस पृथ्वी पर डमलिये अवतीर्ण हुआ है कि 'जिसमें बनी रहे मर्यादा'। उसके जीवन चरित्र से प्राप्त आदर्शों में ज्ञानि-भावना और देशभावना का प्रमुख स्थान रहना अवश्यंभावी है, क्योंकि राम का चरित्र आर्यसंस्कृति की पूर्ण मर्यादा का प्रतिनिधि है और उनकी लीलाक्षेत्र यही आर्य-भूमि है। भारतवर्ष पर अत्याचार करने वाले लोगों की राम के समय में भी कमी नहीं थी और अब भी नहीं है। उस समय भी कितने ही लोगों के हृदयों में कुप्रवृत्तियों ने अपना अड़्डा अच्छी तरह जमा लिया था तथा कितने ही लोग अपनी असभ्यता में, अपने अनार्य आचरण में, अपने जीवन का मार्थक्य समझा करते थे। ये ही बुराइयाँ वर्तमान भारत में भी अपने बहुत ही ज्यादा अनिर्गन्जित रूप में बद्धमूल हो चुकी हैं और बहुत भी होती जा रही हैं। अपनी सहज सहृदयता में कवि ने जिन अत्याचारों को खूली आँख से देखा उनसे उत्पन्न हुई वेदना रामचरित्र का संबल पाकर उद्गार बन गई और आशा से अनु-प्राणित होकर उसने उद्बोधन और अनुष्ठान का स्वरूप ग्रहण किया। गुप्तजी की ज्ञानि-भावना, देश-भावना तथा मर्यादा-भावना का स्रोत इस देश की प्राचीन आर्य-संस्कृति ही है जिसके उद्दीपन के लिए इतिहास से उन्होंने सहायता ली है। आपस के अनैक्य के कारण "क्या पा लिया जयचन्द्र ने निज देश का हित हार के" जिस-

से “हा ! देखनी हमको पड़ी औरंगजेबी अन्त मे ।” इसका नतीजा यह हुआ कि “निज देश में ही हा विधे ! परदेश हमको होगया ।” इस दलित अवस्था को देख कर कवि पुराने दिनों की याद करता है और भविष्य के लिए विकल होता है—“हम कौन थे क्या होगए और क्या होंगे अभी ।” ‘कौन थे’ के साथ ‘क्या होगए, की समस्या का स्वाभाविक संबंध है और कवि पृथ्वता है—

हे देश होकर भी गृही, तू था न यों स्वार्थस्पृही ।

वह धर्म की ध्रुवता कहाँ तेरी बता ।

भब भूत चाहे भूत है, पर वह बड़ा हो पूत है ।

इतिहास देता है हमें उसका पता ॥

‘क्या थे’ का आभास गुप्त जी के प्रबंधकाव्य हमको काफ़ी दे देते हैं । ‘क्या हो गए’ के चित्र हमें कुछ बिखरे हुए मिलते हैं, परंतु ‘भारत-भारती’ में उनकी संख्या काफ़ी है । विषय-विभाग की दृष्टि से भारत-भारती के तीन खंड हैं—अतीत-खंड, वर्तमान-खंड और भविष्यत्-खंड । अतीत-खंड में भारत की प्राचीन गरिमा के बाद अवनति के आरंभ और उसके कारणों का उल्लेख किया गया है, वर्तमान-खंड में भारतवासियों की वर्तमान अवस्था तथा उनके चरित्र में रूढ़ हो गई बुराइयों का जिक्र है, तथा भविष्यत्-खंड में उद्बोधन है । अतीत को देख चुकने पर तुलना द्वारा जब वर्तमान दुरवस्था पर दृष्टि पड़ती है, तो कवि की वाणी में स्वाभाविकतः ही जगह जगह व्यंग्य आ जाता है जिससे उसकी हृदय की सन्निविष्टता और आंतरिक ग्लानि का पता लगता है । हमारे गुणों का गुप्त जी ने इस तरह वर्णन किया है—

बस भाग्य ही का भावना में रह गया उद्योग है ।
 आजीविका है नौकरों में, इंद्रियों में भोग है ।
 परतंत्रता में अभयता, भय राज-दंड-विधान में ।
 व्यवसाय है बैरिस्टरी या डाक्टरी दूकान में ॥
 है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल छद्म में,
 पांडित्य पर-निदा-विषय में, श्रूयता है सद्म में ।
 बस मौन में गंभीरता है, है बड़प्पन वेश में ।
 जो बात और कहीं नहीं वह है हमारे देश में ॥
 कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ ।
 है सत्य या विश्वास केवल कसम खाने में यहाँ ॥
 है धैर्य तर्क-वितर्क में, अभियोग में ही तत्त्व है ।
 अवशिष्ट दारोगागरी में सत्त्व और महत्त्व है ॥
 है कर्म बस दासत्व में, अब स्वर्ण में ही शक्ति है ।
 बस वाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता ॥
 स्वार्थानता निज धर्म-बंधन तोड़ देने में रही ॥

अभावों के ऊपर दृष्टि डालने पर कवि देखता है कि “हैं
 भारतीय परन्तु हम बनते विदेशी सब कहीं” तथा “हम हैं मनुज
 पर हाय, अब मनुजत्व हममें है कहाँ”, और अन्त में कातर होकर
 विलाप करना है—

भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेष है ?

है और सब निःशेष केवल नाम ही अब शेष है ॥

हा राम ! हा हा कृष्ण ! हा हा नाथ ! हा रक्षा करो !

मनुजत्व दो हमको दयामय ! दुःख दुर्बलता हरो ॥

उद्बोधन में ध्वनि अधिक आशापूर्ण हो जाती है तथा उमंग में उदारता दिखाई देती है—

जीते हुए भी मृतक सम रह कर न केवल दिन भरो ।

वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न-बाधाएँ हरो ॥

हैं ज्ञात क्या तुमको नहीं, तुम लोग तीस करोड़ हो ।

यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो ॥

आओ मिलें सब देश-बान्धव हार बन कर देश के,

साधक बनें सब प्रेम से सुख शान्तिमय उद्देश के ।

क्या सांप्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो ।

बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों का कहो ॥

दाशरथि राम के आदर्श से जो देशभावना और समाजभावना को पुष्टि मिलती है उसमें, हम देखते हैं, संकीर्णता का सर्वथा लोप है । संकीर्णता होने पर देशभावना का सच्चा रूप ही विकसित नहीं हो सकता । इसीलिए तीस करोड़ की गणना करके, विविध सुमनों की माला के आशावाद में, सांप्रदायिकता और ऐक्य दोनों का सामंजस्य कराया गया है । “क्या सांप्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो” का अर्थ हमारी समझ में इस सामंजस्य के रूप में ही आता है, क्योंकि इसी में अधिक मानवीयता और स्वाभाविकता दीखती है । सांप्रदायिकता को निर्मूल करने के लिए कहना एक असंभव कार्य के लिए कहना होगा । परन्तु सांप्रदायिकता का जो

उत्तम रूप है उसको कायम रखने में वास्तविकता और उदारता का दृष्टिकोण है। सब संप्रदाय रहे, मेल से रहें, एक साध्य के लिए एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर रहें—उसमें क्या बुराई है ? संप्रदाय में रहता हुआ भी व्यक्ति मनुष्य बना रह सकता है। इसीलिए दयामय से मनुजत्व की भित्ति माँगी गई है और अन्यत्र भी कहा गया है कि—“मनुष्यत्व सबके ऊपर है मान्य महीमंडल के बीच।”

संभव है राम-भक्ति से बल-प्राप्त आर्यसंस्कृति के पक्षपात में हमें कवि की सांप्रदायिकता दिखाई दे और इसीलिए हम यह कहने का आग्रह करें कि गुप्तजी ने वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल किसी नूतन आदर्श की उद्भावना नहीं की। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तजी आर्यसंस्कृति के उपासक हैं और उन्होंने अपनी इस उपासना को कहीं छिपाने की कोशिश नहीं की है। परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गुप्तजी कवि हैं और अपना व्यक्तित्व रखते हैं। वे देशभक्त हैं, यह उनके व्यक्तित्व का अतिरिक्त गुण है। पर, देशभक्त होने के अपराध से उन्हें एक ऐसा राष्ट्रनायक अथवा दिव्यदृष्टा राजनीतिज्ञ भी होना चाहिए था जो वर्तमान भारतीय राजनीतिज्ञों के ऊपर कोई ऐसी नई बात कहता जिसमें आदर्श की भी हानि न हो—यह कहने का हमें अधिकार ही क्या है ? और, यदि वह कोई ऐसी बात कहता तो वह बात मान्य ही किस किस को होती ? हिन्दुओं के अतिरिक्त भारत में और भी असंख्य संप्रदाय हैं। लेकिन हाँ, वह हिन्दुओं को असांप्रदायिक

बनाने—गुप्तजी की उदार वृत्ति को देखते हुए, जिसका अर्थ होगा, हिन्दुत्व की भावना को दूर कराने—की चेष्टा कर सकता था। परंतु क्या यह एक सांप्रदायिकता को दूर करके दूसरी सांप्रदायिकताओं की बलवृद्धि कराने के बराबर नहीं होता। फिर, व्यक्तित्व को नष्ट करने से राष्ट्रीयता का निर्वाह क्या संभव है? राष्ट्रीयता में स्वयं व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति रहती है।

पर हमारी समझ में तो संप्रदायों को रखते हुए उनको एक ऐसी उदारता का संदेश देना जिससे उनका अपने लिए तो अस्तित्व है पर दूसरों के लिए विशेष नहीं—वह भी अब से तीस वर्ष पहले के युग में जब कि अखिल भारतीय जागृति कल्पना और प्रयोग की ही वस्तु थी—आदर्श की काफी बड़ी नूतनता है। एक ओर यह कह कर कि आगिर “अहलै इमलाम-दल को हम बुलाकर ही रहे” जब कवि तीस कराड़ में इम दल की भी गणना करना है तो हम उसमें नेता के उपयुक्त एक ऐसे साहस को भी देखते हैं जिसकी शक्ति उसकी उदारता है। वह स्पष्ट भी कहता है—“हिंदू-मुसलमान दोनों अब छोड़ो वह विग्रह की नीति।” उसके अनिश्चित यह देखते हुए कि आगे चल कर, अमहयोग-काल में, महात्मा गांधी के उद्योग से कवि के संदेश को व्यवहार का भी महत्त्व प्राप्त हुआ कोई, यदि चाहे तो, गुप्तजी को भविष्य-दृष्टि का भी थाड़ा सा अंश दे सकता है।

जिस तरह गुप्त जी को जानिभावना में उदारता है उसी प्रकार देशभावना में भी है। वे कहते हैं—“भरत खंड का

द्वार विश्व के लिए खुला है ।” पर राष्ट्रीयता के व्यक्तित्व को छोड़ बैठना उचित नहीं है । इसलिए “पर जो इस पर अमाचार करने आवेंगे; नरकों में भी ठौर न पाकर पछतावेंगे ।” कहीं कहीं अपनी उदारता की सहज प्रचुरता में गुप्तजी विश्वबन्धुत्व की ओर भी बढ़ जाते हैं — “संसार हेतु शन वार सहर्ष मरे हम” जिस के साथ आशा तथा कर्तव्य की संलग्नता का भी पूरा योग है — “डूबेंगे नहीं कदापि, तरे न तरे हम ।”

राष्ट्रीयता के दो स्वाभाविक पक्ष रहा करते हैं सामाजिक और राजनीतिक । सामाजिक पक्ष में तो गुप्तजी का दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण ही है । हिन्दू समाज की समस्याओं पर ही उन्होंने दृष्टिपात किया है, जो स्वाभाविक है । गुप्तजी स्वयं हिन्दू हैं और हिन्दुओं की परिस्थितियों से ही वे विशेषरूप से परिचिन हो सकते हैं । इसके अनिश्चित भारत का कोई एक व्यापक राष्ट्रीय समाज है भी नहीं । परन्तु राजनीतिक पक्ष में हिन्दुत्व के आग्रह का कोई स्थान नहीं रहता, यदि राजनीतिकता का रूप देश-प्रेम है, तो देशभक्त गुप्तजी की अनेक रचनाओं में हम उनके हृदय का वर्तमान राजनीतिक समस्याओं तथा उपायों के साथ पूर्ण सामंजस्य पाते हैं । सामाजिक परिस्थितियों के संबंध में उनके विचारों की हमें ‘भारत-भारती’ के संगमस्थल में देखना चाहिए । उनके राजनीतिक विचार उनके प्रबन्धकाव्यों में यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं । राज्य और राजा प्रजा के संबंधों के बारे में गुप्तजी के क्या विचार हैं इसे हम नीचे के उद्धरणों में देखेंगे —

(क) एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ ।

राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ ॥

(ख) स्वत्वों की भिक्षा कैसी ।

दूर रहे इच्छा ऐसी ॥

(ग) मुझ से कहो, राजा यहाँ का कौन है ।

कुछ यत्न वह करता नहीं, कर्तव्य से डरता नहीं ।

मरती प्रजा है और रहता मौन है ॥

यदि भीरु वह दुर्बलमना, तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?

कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?

राजा प्रजा के अर्थ है, यदि वह अपटु असमर्थ है,

कारण वही है तो स्वयं उत्पात का ।

सबके सदृश उस भूप की, उस पाप के प्रतिरूप की ।

वक के लिए बारी कभी पड़ती नहीं !

जैसे कि निज पद त्याग दे, सबके सदृश बलि भाग दे ।

न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं ?

राजा प्रजा का पात्र है, वह लोक-प्रतिनिधिमात्र है ।

यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है ।

हम दूँमरा राजा चुनें, जो सब तरह अपनी मुने ।

कारण प्रजा का हर्ष असल में राज्य है ॥

पर है यहाँ की जो प्रजा, जो है बनी बलि को अजा;

वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है ।

ढाले नहीं तो यदि अभी भर धूल मुट्ठी भर सभी ।

तो धूल में मिल जाय वक सो स्पष्ट है ॥

राजा प्रजा के संबंधों तथा दोनों के संबंध में यह सार कथन गुप्तजी ने अपने 'वक्त्रमंहार'-नामक प्रबंध-काव्य में किया है, जिसमें एकचक्रा नगरी में वकामुर द्वारा प्रजा के उत्पीड़न तथा उस अमुर के भास द्वारा मार ज्ञाने का वर्णन है। वकामुर के अनाचारवर्णन में राजा प्रजा के संबंधों के लिए प्रसंग दृढ़ निकालना गुप्तजी के किसी उद्देश्य को सिद्ध करता है। इसके अनिर्गुण्ड इम कथन से कि राज्य कोई करता है और अन्याचार करने वाला कोई और है हम वर्तमान भारतीय राजनीतिक समस्या की किस वास्तविक परिस्थिति का आभास पाते हैं, यह भी ध्यान देने की बात है। साथ ही साथ पहले उदाहरण पर भी तुलनात्मक दृष्टि से गौर करना चाहिए। इसके अनिर्गुण्ड हमें यह भी याद आती है कि 'मुट्ठी भर धूल डालने' की जैसी कुछ बात असहयोग आन्दोलन के समय में भी बहुत से नेताओं के मुख से कही जाती थी। इससे हम यदि चाहें तो इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि कवि कमसे कम धारणा-रूप में असहयोग आन्दोलन से पूर्ण सहमत था।

असहयोग-आन्दोलन के बाद राजनीतिक क्रान्ति का दूसरा युग १९३०-३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन में देखने को मिलता है। उस की भी ध्वनि कवि अपने राम काव्य 'साकेत' में देने का अवसर निकाल लेता है, यद्यपि वह कई अंश में अप्रामांगिक ही है और १९३०-३१ के आन्दोलन की तुलना में बैठता नहीं। परन्तु उससे, इसी कारण से विशेष रूप से, कवि के उत्कट देशप्रेम तथा राजनीतिक आदर्शों का सन्देह-विमुक्त पूरा पूरा अनुमान हो जाता है।

राम के वन जाते समय अयोध्या की सीमा पर, अयोध्या की प्रजा राम के पथ में लट जाती है और—

“जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ ,
यों कह पथ में लट गये बहु जन वहाँ ।

जिम पर रामचन्द्र उससे कहते है—

“उठो प्रजा जन, उठो, तजो यह मोह तुम ।
करते हो किस हेतु चिन्त विद्रोह तुम ? ॥

गुप्तजी ने अपनी ईश्वर, जाति, तथा राष्ट्र से संबंध रखने वाली भावनाओं को अपने काव्य में प्रधान ढंग से स्थान देकर अपने तद्-विषयक उद्देश्य को गुप्त नहीं रक्खा है । अतएव उनका उद्देश्य ही उनके काव्यकर्म की मुख्य प्रेरणा है । उनके इस कर्म का श्रीगणेश ही 'भारत-भारती' जैसी ओजस्विनी रचना से होता है । परन्तु इससे यह भ्रम नहीं होजाना चाहिए कि गुप्तजी प्रचारक और अध्यापक की भौति कोड़ा-कपची लेकर अपने उद्देश्य और संदेश को हमारे सामने रखते है, जैसा कि कभी कभी कुछ लोगों का प्रयास रहा करता है । गुप्त जी ने समाज और राष्ट्र के टुकड़े कर के दलबन्दी की प्रकृति कभी नहीं दिखाई और उनकी जानीय आलोचनाएँ भी व्यक्तिगत तथा हृदयवेधी न हो कर सर्वसाधारण हैं ।

इसका कारण यह है कि उद्देश्य रखने हुए भी वे सच्चे कवि हैं, उनके हृदय में उदारता, महानुभूति, कोमलता, करुणा आदि के सहज कविगुण प्रचुरता के साथ मौजूद हैं । गुप्त जी स्वयं 'कला के लिए कला' को नहीं मानते । कला के संबंध में उन्होंने अपनी धारणा का

कहीं-कहीं परोक्ष ढंग से उल्लेख कर दिया है, जैसे—“अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला” अथवा “मानते हैं जो कला के अर्थ ही, स्वाधिर्ना करते कला को व्यर्थ ही।” अथवा फिर बिलकुल स्पष्ट शब्दों में—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए ।

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ॥

तथापि लोग केवल कला के लिए ही कला की रचना के उपासक हैं वे यदि थोड़ी देर को गुप्त जी की कुछ रचनाओं (पंचवटी, साकेत आदि) में आए हुए जातीय—राष्ट्रीय—संकेतों की ओर से अपनी आँखें बंद कर सकें तो वे उनमें वास्तविक कलात्मक काव्य—‘कला के लिए कला’—का भी दर्शन कर सकते हैं। जहाँ उद्देश्य और कला समान भूमि पर मिलकर एक हो जाते हैं वही तो काव्य का उच्च गौरव प्रतिष्ठित होना है।

जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मानवी वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य है। किसी परिस्थिति से स्वयं द्रवित होना और दृग्गों को द्रवित करना इस प्रत्यक्षीकरण का रूप है। राम—जाति—राष्ट्र के केन्द्र से निर्भरित होनी हुई भावात्मकता गुप्तजी के हृदय में जिस विशालता को भर देनी है वही विशालता गुप्तजी को जीवन के नाना रूपों की मार्मिकता को परखने की सामर्थ्य प्रदान करती है—कहीं कम और कहीं अधिक। स्फुट पक्षों की अपेक्षा प्रबंध में जीवन की विविधता को देखने का अवसर अधिक मिलता है। यहाँ वह एक साथ देखने को मिलती है और प्रसंग उसका

सहायक होता है। अतः स्फुटों की अपेक्षा गुप्त जी की प्रबंध-रचनाओं में भावुकता के अवसर भी अधिक दिखाई देगे। यह सम्मति अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए है, अन्यथा उनके स्फुट पद्य भी नीरस नहीं कहे जा सकते और उनमें से कोई कोई तो भावुकता के बड़े अच्छे उदाहरण हैं। जैसे—

(क) तेरी स्मृति के आघातों से, छाती छिलनी रहे सदा।

चाहे तू न मिले पर तेरी आँख मिलती रहे सदा ॥

(ख) दो आँखें थी किन्तु एक मन, उसमें यही बुद्धि जागी।

मन ही एक और ले लूँ तो, दो होंगे सुख-दुख-भागी ॥

मुनकर विकेता मुसकाया। हाँ, मैं हाट देख आया ॥

निज जीवन का एक रत्न हूँ मैं, मैंने भी रख दिया वहाँ

वह बोला “पागल पत्थर से, मन का विनिमय हुआ कहाँ?”

मत छूना तुम उसकी छाया ॥ हाँ, मैं०

(ग) पुलकित पराग रंजित समर, हा रहा तरंगित तरल नीर,

उड़ना है अंबर में अंबर, है नया प्रकृति का चारु चीर।

मेरे उर में भी उमंग तेरे कर में है कौन रंग ॥

तेरे छाँटा मे आज मित्र; यह मेरा पल्ला हाँ पवित्र।

ये धब्बे हैं या सुमन चित्र मैं मनन करूँ जिनके चरित्र ?

समझूँ कुछ तेरे रंग डंग ॥ तेरे कर में है ०

(घ) उन्हें स्वप्न में देख रात का प्रातःकाल चली मैं।

और खोजती हुई उन्हीं को, घूमी गली गली में।

कितनी धूल छान डाली ॥ मैं यों ही भटकी हे आली ॥

साहस करके चली गई मैं, किन्तु कहाँ तक जाती ।

पैर थके मृक्षा न पंथ भी, धड़क उठी यह छाती ।

थी बयार या व्याली ॥ मैं यों ही ०

आँख मूँद कर चिल्लाई तब, “कहाँ छिपे हो बोलो ।”

करम्पर्शयुत सुना उर्सी क्षण, “तुम आँखें भी खोलो ।

ओ मेरी मनवाली ॥” मैं यों ही ०

प्रबंध-रचना की भावुकता का बहुत कुछ उत्तरदायित्व प्रसंग के ऊपर रहा करना है । प्रसंग-गर्भत्व तो स्फुट पद्यों में भी रहता है परन्तु प्रबंध के धारावाह और तत्संबंधी भावपरंपरा में भावोत्कर्ष का एक क्रम सा रहता है जो किसी विशेष स्थल पर पहुँच कर मार्मिकता और प्रभाव का पुंजीभूत चरमतथ्य बन जाता है । परिस्थितियों और चरित्र प्रसंगोत्थान के ताने-बाने हैं जिस पर प्रबंध की विशदता और चारुता निर्भर रहती है । चरित्र में कार्य और वार्तालाप का उत्तरदायित्व रहता है । परिस्थितियों कहीं तो पात्र के कार्यादिक से व्यंजित की जाती हैं और कहीं कवि अपनी वर्णनचातुरी से उन्हें प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित करता है ।

गुप्तजी के सब प्रबंधकाव्य समान महत्व के नहीं हैं । ‘साकेत’ महाकाव्य को छोड़ कर उनके शेष प्रबंधकाव्य खंडकाव्य हैं जिनमें से कितने ही (विकट भट, जयद्रथवध, रंग में भंग, गुरुकुल आदि) उत्साह-भाव से प्रेरित ओजमयी कृतियाँ हैं । इस प्रकार की कविताएँ ओजसंपादन करके सर्वसाधारण के

हृदयों को, कौतूहल और विस्मय की पद्धति के द्वारा, अभिभूत करने में अवश्य समर्थ होती हैं और, इस प्रकार, आनन्दप्रदायिनी भी होती हैं, परन्तु उनमें विविध परिस्थितियों का अभाव रहने से मुख्य चरित्र की सैद्धान्तिक एकरसता में—दृमरे शब्दों में, संचारियों आदि के अभाव में—उत्थान-पतन के वे दृश्य उपस्थित नहीं होते जो भाव को पूर्ण रस बनाने में समर्थ होते हैं। पर यह कहते समय हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि उनमें कवि का दृष्टिकोण शायद कवित्व की अपेक्षा उद्देश्य के प्रति अधिक ममत्व रखता है। तथापि ऐसे काव्यों में भी संचारियों के लिए यदि कही परिस्थितियाँ आ जाती हैं तो भावुकता का उन्मेष अचन्द्रा बन पड़ता है। इस प्रकार के स्थल 'वकसहार' में अनेक आए हैं जहाँ वीरप्रसू कुन्ती वक से भिड़ने के लिए अपने पुत्र को भेजती हुई अपने मातृहृदय के अन्नद्वन्द्व का भी परिचय देती है, यथा—

फिर होगई गंभीर वह, जिसमें कि हां न अधीर वह ।

माना न किन्तु तथापि मा का अश्रुजल ।

दो वृंद बह कर ही रहा..... ।

अथवा—यो प्रश्नपूर्वक निज कथा, निःशेष कर माना वृथा,

कुन्ती बिना उत्तर लिए निर्गत हुई ।

ठहरी न वह, न ठहर सकी, अति कार्य कर मानों थकी,

बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई ॥

इस प्रकार के प्रसंगों को उपस्थित करने से उद्देश्य को कोई

हानि नहीं होती है, बल्कि उसका कुछ उपकार ही होता है—मनोवेगों की तीव्रता द्वारा उसकी मिद्धि अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है। इसी प्रकार 'जयद्रथवध' में अर्जुन की जयद्रथवध की प्रतिज्ञा के बाद जब कृष्ण ने उससे पृच्छा कि 'तुमने प्रण तो बड़ा दुष्कर किया है, पर अब उसके लिए यत्न क्या सोचा है ?' तो

:..... . धनंजय ने कहा,

“निश्चय मरेगा कल जयद्रथ, प्राप्त होगी जय मुझे ।
हे देव, मेरे यत्न तुम हो, मत दिखाओ भय मुझे ।”
कहते हुए यो पार्थ के दो वृंद आँसू गिर पड़े ।
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोता बड़े ॥
फिर मौन होकर निज शिविर में वे तुरन्त चले गए ।
छलने चले थे भक्त को भगवान आप छले गए ॥

इस स्थल में दिए गए ये मनश्चित्र आगे चलकर अर्जुन के प्रतिज्ञात कर्म का अधिक प्रभावशाली बनाते हैं और प्रबन्ध की दृष्टि से, वे प्रणनिर्वाह के समय भगवान के कौतुक की एक भूमिका तैयार करके उसमें अधिक स्वाभाविकता भी ला देते हैं।

गुप्तजी के छोटे काव्यों में हमको 'पंचवटी' बहुत अच्छा मालूम होता है। इसके प्रारंभिक एक तिहाई अंश में शान्त की मन्दगति स्रोतस्विनी बहती है जिसमें प्रहरी लक्ष्मण का मनःप्रवाह छोटी छोटी तरंगों के रूप में सहयोग देना है और पाठक के मन को भी अपने साथ साथ हलके हलके तैराता है। उसके बाद शूर्प-गाथा के आ जाने से थोड़ी देर तक विनोदपूर्ण वार्तालाप चलता है

और फिर, जब राक्षसी निराश होकर अपनी प्रकृति का दर्शन कराती है तो, अद्भुत, भयानक और बीभत्स के साथ, संक्षेप में, काव्य का कार्य संपन्न हो जाता है। गुप्तजी के रामचरित में लक्ष्मण जिस महान् उद्देश्य के प्रतिनिधि है उसकी प्रतिष्ठा में उनकी एकान्त की भावधारा, रात्रि की शान्ति, तथा वार्तालाप की विनोदशीलता बड़ी सफलतापूर्वक सहायक होती है। इसके अनिरिक्त इसकी भाषा और वर्णनशैली भी इतनी मधुर तथा प्रसादयुक्त है कि उसमें वर्णन तथा वर्ण्य का भेद ही नहीं मालूम होता, भाषा तथा भाव एक हो जाते हैं। विचारों की उदारता, चित्रों की प्रत्यक्षता, मानव-जीवन के साथ प्रकृति को प्रतिसंवादिता, शैलता में समंजसता आदि इसके कुछ ऐसे गुण हैं जो इसे गुप्त जी के काव्य-कर्म का एक अनि प्रकाशमान कीर्तिस्तंभ बना देते हैं। शुरू शुरू में लक्ष्मण का परिचय ही एक बड़े कौतूहलपूर्ण ढंग से आरंभ किया गया है—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुटीर बना।

उसके समुख स्वच्छ शिला पर धीरे धीरे निर्भीकमना ॥

जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है,

भोगी कुसुमायुध यागी सा बना दृष्टिगत होता है ॥

शान्त, ज्योत्स्नार्चित, शुभ्र रात्रि में लक्ष्मण अकेले कुटी पर पहरा दे रहे हैं। कुटी के भीतर राम और सीता सोए हैं। रात्रि के उस वातावरण में लक्ष्मण के मन में तरह तरह की तरंगें उठने लगीं। कभी पुरानी बातों की याद आती है, कभी वर्तमान जीवन

के सौम्य मे संतोष होता है, कभी सामने के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्धता होती है, कभी तत्त्वनिरूपण होता है, आदि, क्योंकि “कोई पास न रहने पर भी जन मन मौन नहीं रहता। आप आपकी सुनता है वह, आप आपसे है कहता” पंचवटी के जीवन में लक्ष्मण के मुख की अनेक सामग्रियाँ हैं। एक यह भी है—

आ आकर विचित्र पशुपक्षी यहाँ बिताते दोपहरी।

भाभी भोजन देती उनको पंचवटी छाया गहरी।

चारु चपल बालक ज्यों मिल कर, मा को घेर खिजाते हैं,

खेल-खिजा कर भी आर्या को वे सब यहाँ रिश्ताते हैं।

इतना सोचते ही सोचते सामने गोदावरी पर दृष्टि जा पड़ती है। उस गोदावरी का बहना भी मानों उन तीनों के पंचवटी-जीवन का उत्सव है। गोदावरी शायद जानती है कि रामचन्द्र राजा है। वह अपने परिचर्या-भाग को समझ कर राजदरबार की मह-फ़िल उपस्थित करती है—

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी।

चंचल जल कलकल कर मानों तान ले रहा है अब भी।

नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन से सुमन महकते हैं।

चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं।

इसी तरह सोचते सोचते और देखते देखते दिन निकलनेवाला हो-गया। जरा सी रात्रि शेष थी कि शूर्पणखा एक अनि मनोहर रमणीरूप धारण करके लक्ष्मण के सामने आती है और प्रेम-याचना करती है। और अभी इन दोनों का तर्क चलता ही है कि

ऊषागमन होगया और सीता कुटी के द्वार पर प्रकट हुई। सीता और लक्ष्मण का उज्ज्वल विनोद चल ही रहा था कि राम भी आ उपस्थित हुए। लक्ष्मण-शूर्पणखा की भेंट के प्रथम क्षण से ले कर शूर्पणखा की भत्सर्ना तक सारा ही वार्तालाप पढ़ने की चीज है। उसकी विदग्धता, तर्कपद्धति, छन्दवृत्ति तथा शूर्पणखा की मानसिक असमंजसता का आम्वादन एक दो उदाहरणों से यथावत नहीं हो सकता।

लक्ष्मण की अंतिम चेतावनी सुनकर तो “क्षंकृत हुई विषम तारों की तंत्री सी स्वतंत्र नारी।” और फिर अद्भुत और भयानक का एक साथ मेल देखने में आया—

गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ो के छत्तो से,
हिलने लगे उष्ण सौनों से ओठ लपालप लत्तो से,
कुंदकला से दाँत हो गये बड़ बगह का डाढ़ो से।

× × × ×

जड़ों लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चार वहाँ।
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ।
कंधों पर के बड़े बाल वे बने अहो ! आँतों के जाल।
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुंडमाला मुविशाल ॥

तदनंतर प्रभु का इशारा पाकर लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए, प्राण नहीं लिए। तब—

और कुरूपा होकर तब वह रुधिर बहाती, बिललाती,
धूल उड़ती आँधी ऐसी भगी वहाँ से चिल्लाती।

‘साकेत’ गुप्त जी का महाकाव्य है और उसका “प्रकाशन वास्तव में हिन्दी-साहित्य की एक महत्वपूर्ण घटना है।” महाकाव्य के रूप में साकेत के अवतीर्ण होने का अर्थ हिन्दी-साहित्य के एक नवीन आवर्तन से है जो जहाँ, एक ओर, इस ग्रंथ के कारण एक अभिनव गौरव का भाजन बना है वही, दूसरी ओर रामचरित के संबंध में एक नए दृष्टिकोण को आश्रय देकर विचारों के विकास का भी मार्ग खोलता है। तुलसीदास जी के ‘रामचरितमानस’ द्वारा रामकथा को लेकर जो एक धारणा पद्धति हिन्दू समाज में बनी हुई थी उसका निराकरण न करता हुआ भी ‘साकेत’ उसको एक भिन्न प्रकाश में देखता है। राम गुप्तजी के भी नायक है, ‘साकेत’ के भी नायक है, परंतु प्रकट होते हैं वे लक्ष्मण के व्यक्तित्व में। लोकेश के चित्रण का जो स्फुरण है वही लक्ष्मण है और सद्गुण में चिन् का निरीक्षण करने वाले राम वास्तव में एक द्रष्टा हैं। चिन् से जो स्फुरण अथवा प्रसारण होता है उसमें क्रियाशीलता देखी जाती है। अतः ‘साकेत’ में क्रियाशीलता का विशेष उत्तरदायित्व लक्ष्मण को ही प्राप्त है, जिससे यह भ्रम हो जाना अस्वभाविक नहीं है कि कदाचिन् ‘साकेत’ के नायक लक्ष्मण ही है। ‘साकेत’ की दूसरी विशेषता इस बात में है कि राम अवतार होकर भी हम लोगों के बीच में कुछ मनुष्य ही जैसे अधिक दीखते हैं, क्योंकि उन्होंने इस भूतल को अपना लिया है। उन्होंने कहा है—“संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।” परंतु ‘साकेत’ की आध्यात्मिक व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है। केवल हमें यही

देखना है कि महाकाव्य की दृष्टि से किन किन तत्वों ने, मोटे रूप से, इसमें कैसा विकास हासिल किया है—

प्रबंधकाव्य के साधनभूत जो जो अंग हैं वे महाकाव्य में अपने पूर्ण साफल्य को प्राप्त होते हैं। कवि के पास कार्य-क्षेत्र की इतनी विशालता रहती है कि अपने जिन हाथ-पैरों को वह अन्य तंग स्थानों में सिकोड़ कर रखना है या बहुत ही संकुचित रूप से प्रसारित करता है उन्हें यहाँ वह उन्मुक्त कर सकता है। उसकी दृष्टि भी ज्यादा दूर तक जाती है और वह खुलामा तौर पर मौम भी लेता है। महाकाव्य का महाकाव्यत्व इसी में है कि एक प्रधान भाव के अधीन रख कर कवि दूसरे जितने भी भावों को, जिनकी भी परिस्थितियों में देख सकता है उनको देखने की वह चेष्टा करता है। महाकाव्य का आनन्द सर्वांगपूर्ण होता है और साथ ही अनुभूति की पूर्णता से भी युक्त होता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रख कर प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के बड़े व्यापक लक्षण बताया है। वर्तमान समय में उनका उपयोग जीवन की व्यापकता के सन्देशमात्र के रूप में ही किया जा सकता है—यह आवश्यक नहीं कि उन लक्षणों में परिगणित प्रत्येक तथ्य का भी अनुसरण किया ही जाय। प्राचीनकाल में जीवन क्षेत्र का जो विस्तार था अब शायद वह उससे अधिक है और कवि को इस बात के निर्णय की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह उस विस्तार के किन आवश्यक अंगों का उपयोग करके उसकी व्यंजना हमारे सामने उपस्थित करता है।

आजकल की बोली में, जो वास्तव में पुरानी बोली से ज्यादा भिन्न नहीं है, काव्य में जीवन के विस्तार को दिखाने के साधन परिस्थितियों की बहुरूपता और तन्मयवन्धी मनोविज्ञान हैं। पुरानी बोली में हम इन्हीं को आलंवन विभाव, संचारी तथा अनुभाव कहते हैं। परन्तु इसके संबंध में एक बात ध्यान में रखने की है कि उन सब साधनों का सार्थक्य पात्र के उद्देश्य और उसकी अनुरूपता में ही होता है। केशवदाम अपने पात्रों को भूल जाते हैं इसलिए उनके काव्य की परिस्थितियाँ वस्तुतः उनके प्रबंध-काव्य का अंग नहीं रह जाती। वर्तमान समय की परिभाषा में जिसे चरित्र-चित्रण और अन्नद्वन्द्व कहा जाता है वह आलंवनमूल इन्हीं भावानुभावों के समाहार का अधिक व्यापक अभिधान है। एकोद्दिष्टता, अर्थात् स्थायी भाव के नैरन्तर्य, की दृष्टि से कथा-संबंध का निर्वाह भी चरित्रचित्रण के सुन्दर रूप के लिए आवश्यक हो जाता है।

चरित्रचित्रण के दो श्रेष्ठ साधन हैं—क्रिया-व्यापार और पात्रों की उक्तियाँ। इन्हीं दोनों से संचारियों के मार्ग द्वारा स्थायी की पुष्टि होती है।

गुप्तजी के कथा-संबंध अथवा प्रबंध-निर्वाह के बारे में हम यह कह सकते हैं कि वह उनके महाकाव्य में (तथा खंड-काव्यों में भी) साधारणतया ठीक है तथा उसमें अप्रसरता की सामर्थ्य है। परन्तु यह अप्रसरता प्रायः घटनाओं की शक्ति से होती है, चरित्र की शक्ति से उतनी नहीं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से

गुप्तजी के पात्र उनके महाकाव्य में (कहीं-कहीं खंडकाव्यों में भी), अनेक संचारियों का प्रदर्शन करते हुए भी, अपरिवर्तनशील, है। वे एक स्पष्ट उद्देश्य, आदर्श, सिद्धान्त का पालन मात्र है। परन्तु महाकाव्यान्तर्गत सात्विकों और संचारियों में यह खूबी है कि वे उन पात्रों की अविकसनशील दशा का भान नहीं हान देते और अपनी-अपनी धारी पर पाठक को अपने में मगाने कर लेते हैं। पात्रों के चरित्र-तथ्य के उद्घाटन में उनके संचारियों ने पूर्ण सहानुभूति और सहृदयता के भाव काम किया है। चित्र के प्रसंग को लेकर उर्मिला और लक्ष्मण के बीच जो वस्तुसुकता-पूर्ण हार्म-विलास दिखाया गया है वह बड़ा ही हृदयो-ल्लासी है। वह कथनोपकथन के रूप में है और उसमें प्रयुक्त वाग्वेदग्य महज वृत्ति की दृष्टि से तो सात्विकों, और प्रसंग के तकाजों से संचारियों, का बड़ा मुग्धकर चित्र बन जाता है। परिस्थिति-वर्णन में, वन-भ्रमण की तैयारी के समय, सीता, उर्मिला, लक्ष्मण, सुमित्रा और 'सब' के संचारियों की व्यंजना तथा अनुभावों का प्रदर्शन कवि ने बहुत थोड़े से शब्दों में, परन्तु भरपूर प्रभाव के साथ, किस खूबसूरती से किया है सो नीचे की पंक्तियों में देखने लायक है—

सीता भीर न बोल सकी, गद्गद कंठ न खोल सकी ।
 इधर उर्मिला मुख निरी, कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी ॥
 लक्ष्मण ने हाँ मूँद लिये, सबने दो दो बूँद दिये ।
 कहा सुमित्रा ने 'बेटी, भाज मही पर तू छोटी ।'

पशुओं तक की दशा के वर्णन में हम कवि के इस कौशल को देख सकते हैं। सुमन्त्र जब राम, लक्ष्मण और सीता को वन में छोड़ अयोध्या में लौट कर आए हैं तो उनके घोड़ों की दशा का गुप्तजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

जो थे समार के जोड़ों के, उठते न पैर थे घोड़ों के ।

जो भीषण रण में भी न हटे, मानो अब उनके पैर बटे ।

अति भार हुआ राना रथ था, गृह-पथ मानों अरण्य-पथ था ॥

पर, अनुभावादिकों की अपेक्षा गुप्तजी को सात्विकों की क्रीड़ा दिखाने के अधिक अवसर मिले हैं। इसका कारण शायद पात्रों की अपरिवर्तनशीलता ही है। गुप्तजी नियत जीवन की साधारण चर्या में ही पद-पद पर ऐसे स्थल ढूँढ़ लेते हैं जहाँ भावुकता एक इशारे में सामने आकर खड़ी हो जाती है। 'पञ्चवटी' में लक्ष्मण का जो 'आप आपमें' कहना-सुनना है वह इसका मनोहर उदाहरण है। 'साकेत' में राम, लक्ष्मण और सीता गंगा पार करने के बाद, और तदुपरान्त यमुना-स्नान करने के बाद, जब आगे बढ़ते हैं तो उनके वनावलोकन में वाणी और चेष्टा के जो सात्विक भाव प्रदर्शित हात हैं उनमें जबरदस्त आकर्षण है। क्योंकि उनका वनावलोकन, परिस्थिति को एक किनारे रख कर, हृदय की सहज सहानुभूति और उदारता से प्रेरित है। सीता कहती है—“वन में सौ सौ भरे पड़े रस के घड़े ।” पर वस्तुतः ये ‘सौ-सौ घड़े’ वन के नहीं, उन्हीं की वृत्तियों के हैं, अपने प्रथम सोपान में गुप्तजी के हृदय के हैं। राम और राष्ट्र से जो

भावुकता का भंडार गुप्तजी को मिला है वह उन्हें सर्वत्र ही उद्गारों को प्रकट करने के लिए सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ दे देता है ।

गुप्तजी की इस सफलता का भावुकता के अनिरुक्त उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि को भी श्रेय मिलता है । हम गुप्तजी को व्यावहारिक मनोविज्ञान का शास्त्री कह सकते हैं । यद्यपि विक्रमहीन पात्रों में चरित्रचित्रण की गुंजाइश कम, या नहीं, होती है तथापि उपपरिस्थितियाँ पैदा करके उनमें भावशक्तता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्मनिरीक्षण की ही प्रवृत्ति का शानक है । दशरथ जब कैकेयी को क्रोध में पड़ी देखते हैं उस समय का वर्णन नीचे दिया जाता है—

पड़ी थी बिजली-सी विकराल, लपटें थे घन-जैसे बाल ।

कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप ॥

किन्तु क्या करते, धोरज धार, बैठ पृथ्वी पर पहली बार ।

... .. बोले भूपाल ॥

इसमें संदेह नहीं कि दशरथ उस समय पहली ही बार पृथ्वी पर बैठें होंगे, परन्तु कथा-संबंध की दृष्टि से यह बात साधारण मी ही कही जाएगी जिसका उल्लेख न भी होने से कोई हानि नहीं थी । तथापि कवि स्थिति-चित्रण, राजा के मनोभाव तथा उनका पृथ्वी पर बैठना, इन सब बातों की आनुक्रमिक परंपरा उपस्थित कर दो शब्द—“पहली बार”—को अति भाववाही बना देता है । मानसिक विप्लव के सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण उस समय भी देखा

जा सकता है जबकि लक्ष्मण कैकेयी के वरों की बात जान कर और उस पर क्रोध कर चुकने पर अपने पिता की ओर ध्यान देते हैं। पर वे केवल कहते हैं—“पिता है वे हमारे या--कहूँ क्या !” इस “कहूँ क्या” में क्रोध और ग्लानि के साथ साथ मर्यादा का अवशेष भी कैसा मिला हुआ है सो देखना चाहिए। नहीं तो जो लक्ष्मण अभी अभी कैकेयी से तरह तरह के अकथनीय कह चुके हैं वे अपने पिता के लिए भी कह सकते थे—“पिता हैं वे हमारे या कि अरि है” या ऐसा ही कुछ और।

विक्रम तथा यथार्थ अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि से ‘साकेत’ में कैकेयी का चरित्र-चित्रण श्रेष्ठ है, इसलिए कि वह किसी आदर्श की प्रतिमा नहीं है। विशेष रूप से उसका वह अन्तर्द्वन्द्व जो मंथरा के चिनगारी छोड़ जाने के बाद चलता है हमारे हिंदी साहित्य में एक बहुत बड़े गौरव की वस्तु है। इस द्वन्द्व के वस्तुत्व और क्रमिक उत्थान की रेखा आती है मंथरा के इन शब्दों पर—“भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह” जो कैकेयी की शुद्ध भावनाओं अथवा समाधानों के बीच में बार बार गुँज उठते हैं और अन्त में उसे इस निश्चय पर पहुँचाते हैं—“नहीं है कैकेयी निर्बोध, पुत्र का भूले जो प्रतिशोध।”

चरित्रचित्रण का एक अति सुष्ठु साधन पात्रों का कथोपकथन भी होता है। गुप्तजी इसमें भी बड़े पटु हैं। इनकी, कथोपकथन कराने की अद्भुत प्रतिभा तो महाकाव्य में ही नहीं, खंडकाव्यों तक में देखी जाती है। ‘पंचवटी’ के कथोपकथनों का जिक्र किया जा चुका

है। दूसरे ग्वंड़काव्यों में भी कम-बेश यह बात मौजूद है। 'साकेत' में एक उदाहरण देते हैं। सुबह होने पर उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन का प्रसंग है---

उर्मिला बोली "अजी तुम जग गए। स्वप्न-निधि से मयन कब से लग गए?"
 "मोहिनी ने मंत्र पढ़ जय से छुआ, जागरण रुचिकर तुम्हें जय से हुआ।"
 "जागरण है स्वप्न से अच्छा कही", "प्रेम में कुछ भी घुरा होता नहीं।"
 "प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए, योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए?"
 "...यारी तुम्हारी योग्यता के पास है। किंतु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"
 "दास बनने का यहाना किस लिए, क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
 देव होकर तुम सदा मेरे रहो, और देवी हो मुझे रक्खो, अहां।"
 "तुम रहो मेरी हृदयदेवी सदा, मैं तुम्हारा हूँ प्रणयमेवो सदा।
 ...किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी, है तुम्हारे पादपद्मों में पड़ी।"
 "अवश अवला हूँ न मैं, कुछ भी करों, किन्तु पैर नहां। शिरोरुह तब धरो।"
 "साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये, देख कर ही विष चढ़े जिनका अये।
 अमृत भी पल्लवपुटों में है भरा, विरस मन को भी बना दे जो हरा।"
 "तदपि तुम-यह कीर क्या कहने घला? कह अरे, क्या चाहिए तुझको भला?"
 "जनकपुर की राजकुंज विहारिका, एक सुकुमारी सलोनी सारिका।"
 देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण है, उर्मिला के नेत्र गंजन से फँसे।
 "तोड़ना होगा धनुष उसके लिए"। "तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये।
 सुतनु, टूटे का भला क्या तोड़ना। कीर का है काम दाढ़िम फोड़ना।
 छोड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे, जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे।"

“...और भी तुमने किया है कुछ कभी, या कि सुगं ही पढ़ाए हं अभी ?”

“बस तुम्हें पाकर अभी साँवा यहाँ ।”

इस उदाहरण से प्रतीत होगा कि कथोपकथन की समीचीनता के लिए वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्दवृत्ति, तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का कवि ने कितना सुन्दर उपयोग किया है। ये सभी तत्त्व थोड़ी बहुत मात्रा में गुप्तजी के खंडकाव्यों के कथोपकथनों में भी देखे जाते हैं। जीवन की व्यापकता के संबंध से ‘सांकेत’ में बहुत सी अवस्थाओं के चित्र या प्रसंग आए हैं जो अपने अपने स्थान पर पात्रों तथा परिस्थितियों के औचित्य के कारण प्रभावोत्पादक हुए हैं। प्रकृतिचित्रण तथा मानवीय चित्रण भी गुप्तजी ने अच्छे किए हैं जिनके उदाहरण अब तक दिए गए उदाहरणों में ही मिल जाँगे।

इनके अलंकार-प्रयोगों के बारे में यह कहना है कि वे भावों के सहयोगी हैं। उनमें कृत्रिमता और प्रयास दिखाई नहीं देते। कहीं कहीं तो कल्पना की नूतनता भी बड़ी चमत्कारी है, जैसे नीचे के पहले उदाहरण में—

(क) चले फिर रघुवर मा से मिलने, बढ़ाया घम सा प्राणानिल ने।

चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे।

(ख) पृथ्वी की मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर।

स्वर्गगा उसमें उतर डूबी अंबर बोर ॥

(ग) यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,

स्वर्गकंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।

सह न सकी भव ताप अचानक गल गई,

हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी । (गंगा वर्गान)

गुप्त जी की भाषा विशुद्ध ग्वड़ी बंगाली है यद्यपि कही कही, बहुत कम, ऐसे शब्दों का भी प्रयोग देखा जाना है जो ग्वड़ी बंगाली में व्यवहृत नहीं होते, जैसे 'हृजों', 'अखियों' आदि । शब्दसंबंधी स्वतंत्रता और भी एक-दो रूपों में देखने में आती है जैसे संज्ञा की क्रिया बना लेना ('प्रमाणी') या छंद की आवश्यकता के लिए कहीं मात्रा कम कर देना ('मुरझ गया') या विशेषण में लिंग-वचन का चिह्न लगा देना ('भरिनाएँ') परन्तु इस तरह की स्वतंत्रताओं का भी बहुत ही कम उपयोग किया गया है । भाषा में प्रसाद है । 'पंचवटी' में तो प्रसाद जैसे मृनिमान ही हो गया हो । बहुत कम स्थानों पर संस्कृत के ढंग की समस्त पदावली भी देखने का मिलती है । संस्कृत के ही ढंग से, गुप्त जी की कुछ कुछ प्रवृत्ति संयुक्ताक्षरों के पहले वर्ग को दीर्घवत् पढ़ने की सी भी मालूम होती है । भाषा में कहीं कहीं भावों के अनुसार ध्वनि उत्पन्न करने की रुचि भी दृष्टिगत होती है, यथा "भांक न भंभा के भोंके में झुक कर खुले झरोखे से ।"

गुप्त जी के काव्य और उसकी प्रेरक मूल शक्तियों के इतने दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है, जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, कि उनकी ईश्वर, जाति तथा राष्ट्र से संबंध रखने वाली भावनाओं तथा उनकी कविताओं का घनिष्ठ पारस्परिक संबंध है । वे एक दूसरी से अलग, स्वतंत्र, नहीं है बल्कि प्रत्येक एक

दूसरी को यत्न प्रदान करने वाली है। इसीलिए गुप्त जी मेहम न तो, एक ओर, उनके ईश्वर की किसी मंकीर्णता को ही देखते हैं और न, दूसरी ओर, किसी एकदम लोक-मर्यादा विरुद्ध नवीन अथवा क्रान्तिकारी मार्ग की उनकी अनुमंथान-चेष्टा को ही। प्रत्येक ध्यान की मर्यादा पर दृष्टि रखते हुए गुप्त जी ने उसका वर्तमान परिस्थितियों से सामंजस्य अवश्य स्थापित किया है और देश की वेदना को, उसकी पुकार को, अपने लोकप्रिय काव्य द्वारा जनता तक पहुँचाने का अवश्य प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से यदि हम इनको राष्ट्र तथा जाति के नेताओं में भी स्थान दें तो क्या अनुचित होगा ? प्रत्येक नेता या पथप्रदर्शक का तरीका एक नहीं होता। गुप्तजी की वाणी में प्लेटफार्म पर बोलने वाले नेताओं की वाणी की अपेक्षा अधिक असर है, अधिक पायदारी है। उन्होंने भारत-वर्ष के, अगली-पिछली कम से कम चार-पाँच दशकियों तक के, जीवन-द्वन्द्व तथा उसके अन्तस्तल के विकल स्पन्दनों की व्यंजना व अभिव्यक्ति अपने प्रवाही, आप्लावी रागों द्वारा गा गा कर की है। उनको जो आजकल का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है सो बिल्कुल न्याय है।

बाबू जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद बनारस के रहने वाले थे तथा वहाँ के प्रसिद्ध बाबू देवीप्रसाद मुँघनीसाहु, ज़रदे के व्यापारी, के पुत्र थे । इनका जन्म संवत् १९४६ में माघ शुक्ला १२ को हुआ । हिंदी साहित्य के दुर्भाग्य से इन्हें अधिक आयु प्राप्त नहीं हुई । अभी, लगभग ढाई वर्ष पहले, इन्होंने क्षय से पीड़ित हो कर सैनालीस-अड़नालीस वर्ष की आयु में इस संसार से प्रयाण कर लिया ।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा अधिक नहीं थी । अल्पायु में ही अपने पिता, तथा कुछ वर्ष बाद, बड़े भाई को खो कर व्यापार का बोझ इन्हें सँभालना पड़ गया । परंतु संस्कृति की ओर इनकी रुचि पहले से ही थी । अतः घर पर रहते हुए ही इन्होंने स्वाध्याय द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन आदि का खूब ज्ञान-संग्रह किया । बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध संस्कृति से इन्हें विशेष रुचि मालूम होती थी । उसका इनकी भावधारा तथा विचारधारा पर प्रभाव भी पड़ा था । इनकी रचनाओं में, विशेषतः नाटकों में उसकी झलक अच्छी तरह देखने में आती है ।

प्रसाद जी ने अपनी काव्य-रचना बहुत पहले, बाल्योत्तर अवस्था के बाद से ही, आरंभ कर दी थी । उस समय के इनके लिखे

हुए दो-एक छोटो-छोटो नाटक 'मञ्जन' आदि, तथा कुछ फुटकर काव्य मिलते हैं। यह भी कहा जाता है कि इनकी कई एक प्रारंभिक रचनाएँ अप्राप्य या दुष्प्राप्य भी हो गई हैं। इनकी पहले की कविता ब्रजभाषा में है तथा नाटकों में भी पुरानी रचना-प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है जिसका रूप भारतेन्दु ने प्रतिष्ठित किया था। उनमें खड़ी बोली की बात-चीत के वाच में ब्रजभाषा का पद्य देकर सस्कृत नाटकों की अनुमृति पर प्रसंगानुकूल किसी प्राकृतिक दृश्य को लेकर मिथ्यान्तनिरूपण किया गया है। प्रसाद जी की पुरानी ब्रजभाषा कविता का एक उदाहरण जिसमें खड़ी बोली का भी पुट आगया है यहाँ दर्शनीय है—

पुलक उठे हैं रोम रोम खड़े स्वागत को,
जागत हैं नैन-बरुना पे छबि छाओ तो,
मूरति तिहारी उर-अंतर खड़ा है, तुम्हें
देखिबे के हेतु, ताहि मुख दरसाओ ना
भरि कै उछाह सो उठे है भुज भेंटिबे को
भेंटिबो को ताप क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो:
हिय हरखाओ, प्रेम-रस बरसाओ, आओ,
बेगि प्रान प्यारे! नेक कंठ सो लगाओ तो।

बौद्धदर्शन के प्रभाव से 'प्रसाद' की भावप्रणाली में नियतिवाद तथा निराशावाद की प्रतिष्ठा भित्तिरूप में हो जाती है। इस निराशा का उद्गम अपने प्रथम सोंपान में यौवन की पिपासा और उसकी अतृप्ति से होता है। यौवन-पिपासा का रूप भावुक

प्रेम है और अनृप्ति का परिणाम करुणा है । 'प्रसाद' की फुटकर रचनाओं में क्रमगति से प्रस्फुटित इस पिपासाजन्य अनृप्ति और करुणा का स्पष्ट और विशद रूप हमें उनकी प्रबन्ध-रचनाओं (नाट्य, कहानी, उपन्यास और महाकाव्य) के स्त्री-पात्रों में अच्छी तरह देखने को मिलता है । यहाँ हम उसमें विकसित उज्ज्वल रूप को भी देख लेते हैं जिसे यदि हम चाहें तो विकास पद्धति का दूसरा-तीसरा स्रोत भी कह सकते हैं । अपन उज्ज्वल रूप में यौवन-पिपासा का भावुक प्रेम करुणा की विशालता का प्राप्त कर त्याग, आत्मदान, समर्पण और नियत का स्वरूप बन जाना है; करुणा साधना बन कर साम्यभाव, सेवा आदि का रूप ग्रहण कर लेती है । परन्तु जो प्रेम और अनृप्ति वामनामय हैं उसका समर्थन 'प्रसाद' जी नहीं करते । उस वामना का जय होना जरूरी है । वामनापूर्ण प्रेम की अवस्था में भी, वामना का जय होना के बाद, पिपासु करुणा के ऊँचे स्वरूप का साधक बन कर मानव-समाज या विश्व के साथ अपने उद्देश्य का ऐकान्त्य स्थापित करता है ।

साधना के इस पवित्र रूप में प्रथम निराशा पर प्रतिक्रिया होती है । यह प्रतिक्रिया एक नई आशा का संदेश है, शान्त जिम्मे के साथ साथ फिरती है और मिलन, अथवा मिलन का कल्पना, जिसका स्वाभाविक उपलब्ध हो जाती है । यह मिलन एक भिन्न प्रकार का मिलन है, स्थूल संसर्ग की भावना से कौमों दूर, और वह सामर्थ्य तथा साहस का सचय करके लोक-कल्याण का अप्रदूत बनता है ।

‘प्रसाद’ जी ईश्वर और संसार दोनों को मानते हैं। संसार उनके लिए मिथ्या नहीं है, अन्यथा करुणा और साधना का वह रूप संभव नहीं, जो ऊपर बताया गया है। करुणा के इस रूप के कारण ही शायद उनकी ईश्वरीय धारणा भी शिवरूप की मालूम होती है जैसा कि हमें ‘कामायनी’ (‘प्रसाद’ जी का महाकाव्य) से पता चलता है। कहीं कहीं हम ‘प्रसाद’ के ईश्वर को प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते हुए भी देखते हैं, जैसा कि रहस्यवाद की भावना में देखा जाता है।

यथा—सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,

मुकुलों में कौन मकरंद सा अनूप है,

मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन,

स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।

अथवा—उषा सौंदर्यमयी मधु-कांति, अरुण-यौवन का उदय विशेष।

सहज-सुषमा मदिरा से मत्त, अहा कैसा नैसर्गिक वेश !

देखकर जिसे एक ही वार, होगए हम भी हैं अनुरक्त।

देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त !

दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—सृष्टि ने मधु-धारा में स्नान।

बह चली मन्दाकिनी मरन्द-भरी करती कोमल कल गान।

अब ‘प्रसाद’ जी की प्रेमपद्धति के भी दो-चार उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। प्रेम किस तरह चुपके से हृदय-देश में प्रवेश कर अपना परिचय कराता तथा पिपासा को उद्दीप्त करता है सो इन उदाहरणों में देखा जा सकता है—

(क) हृदय गुफा थी शून्य, रहा घोर सूना ।
 इसे बसाऊँ शीघ्र, बड़ा मन दूना ॥
 अतिथि आगया एक, नहीं पहचाना ।
 हुए नहीं पद-शब्द, न मैंने जाना ॥
 हुआ बड़ा आनन्द, बसा घर मेरा ।
 मन को मिला विनोद, कर लिया घेरा ॥
 उसको कहते “प्रेम” अरे अब जाना ।
 लगे कठिन नखरेख, तभी पहचाना ॥

(ख) मेरी आँखों की पुतली में, तू बन कर प्रान समा जा रे !
 जिससे कन-कन में स्पन्दन हो, मन में मलयानिल चन्दन हो,
 करुणा का नव अभिनन्दन हो—वह जीवन-गीत सुना जा रे !
 खिंच जाय अधर पर वह रेखा—जिसमें अंकित हो मधु-लेखा,
 जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे !
 फिर, प्रेम का स्वरूप जानने के बाद, उससे पिपासा की दीप्ति
 होने पर, अतृप्ति का भी रूप बनने लगता है -
 भरा जी तुमको पाकर भी न ; होगया छिछले जल का मीन ।
 विश्व भर का विश्वास अपार, सिन्धु सा तैर गया उम पार ।
 न हो जब मुझको ही संतोष; तुम्हारा इसमें क्या है दोष ?
 अतृप्ति से विरह में वेदना होती है । ‘प्रसाद’ की कविता में
 उसने तीव्र रूप धारण कर लिया है, यथा—

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती;
 क्यों हाहाकार स्वरो में वेदना असीम गरजती ।

क्यों छलक रहा दुःख मेरा ऊपा की मृदु पलकों में;
 हों, उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में ।
 बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
 नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में ।

तथा फिर—

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मलमल कर मृदुल चरण से ।
 घुल-घुल कर बह रह जाते, आँसू करुणा के कण से ॥
 पर 'प्रसाद' की विरह-वेदना आत्महत्या करने वाली नहीं है ।
 वह निरुद्देश्य, निष्क्रिय नहीं होती । उसकी प्रतीक्षा और आशा
 चलती ही रहती है ।

परिश्रम करता हूँ अविराम बनाता हूँ क्यारी औ कुंज ।
 सींचता एग-जल से सानंद, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज ॥
 नई कोंपल मे से कोकिल, कभी किलकारेगा सानंद ।
 एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा मकरंद ॥
 मूक हो मतवाली ममता, खिलें फूलों से विश्व अनंत ।
 चेतना बने अधीर मिलिद, आह, वह आवे विमल वसंत ॥

'मतवाली ममता' को मूक कर देने की प्रवृत्ति में जहाँ एक
 ओर विरह की नीव्रता तथा असहायता का विलीयमान स्वर है वहीं
 अपने दूसरे रूप में, वह हमें आगे आने वाली उस सक्रिय वृत्ति
 के लिए तैयार करती है जो निराशा में संतोष लाकर विरह को
 लोक-कल्याण का साधन बनाती चलती है । वियोग और मिलन
 की समरसता की पहली पद्धति के आगंभ में कवि पूछता है—

चाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुछ न कहा जाता,
 गद्गद् कंठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता;
 जीवनधन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ मत मौन रहो,
 वाह्य-वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो ?
 इसके आगे प्रेम और विरह की विशालता का रूप प्रतिष्ठित
 होता है और कवि पूछना छोड़कर उद्बोधन के साथ निष्कर्ष कथन
 करता है—

आँसू-वर्षा से सिंचकर दोनों ही कूल हरा हो,
 उस शरद-प्रसन्न-नदी में जीवन-द्रव्य अमल भरा हो ।
 हैं पड़ा हुई मुँह ढककर मन की जितनी पीड़ाएँ,
 वे हँसने लगीं सुमन-सी करती कोमल क्रीड़ाएँ ।
 जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे,
 फिर निरख उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे ।
 निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला,
 इस जलते हुए हृदय का कल्याणी शीतल ज्वाला ।

प्रेम और विरह-वेदना के इस करुणामय आवर्तन के लिए,
 जिसमें करुणा अन्त में अपने लिए न रह कर दूसरों के लिए निखर
 जाती है, स्त्री का कोमल हृदय अथवा प्रकृति का विशाल वक्ष ही
 समुचित आधारस्थल है । पुरुष में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहती है ।
 पुरुष कठोर होता है, वह जीवन के कठोर कर्मों के लिए बना है,
 प्रेम का व्यापक स्वरूप उसमें प्रतिफलित होने की गुंजाइश कम
 है और, जहाँ वह संकीर्ण हृदय नहीं है वहाँ उसमें चरित्र का

मंगलाधार एक व्यापक कर्तव्यबुद्धि है—व्यक्तिगत प्रेमलालसा की सुदूर परिणति नहीं। 'प्रसाद' की प्रबन्ध-रचनाओं में हम अधिकतर इसी बात को देखते हैं; उनके स्त्रीपात्रों में ही प्रेम का लोक-करुणामय रूप विशेषतया विकसित होता है। फुटकर पद्यों में विकास का स्थान नहीं होता। इसीलिए प्रेमलालसा से लगाकर करुणा के सन्देश तक सारी पद्धतियाँ किसी एक पद में मिलना कठिन है और इसीलिए शायद, हम कवि को स्फुट पद्यों में स्त्री की भाँति बोलता हुआ भी नहीं पाते।

परन्तु साथ ही हम उसे किसी प्रेय स्त्री को भी संबोधित करता हुआ प्रायः नहीं पाते, यद्यपि प्रेमी पुरुष की भी परिस्थिति 'प्रसाद' की भावना से बहिर्गत नहीं है। प्रेय को सामान्यलिंग मानने की शायद एक परिपाटी भी है जो उर्दू शायरी में अथवा रहस्यवादी रचनाओं में प्रधान रूप से देखने में आती है। पर, यह भी ध्यान रखने की बात है कि भारतीय विचार-परंपरा में प्रेम की प्रथम प्रेरणा स्त्री की ओर से ही होती है। यह बात 'प्रसाद' की प्रबंध रचनाओं में भी देखने में आती है। अतः 'प्रसाद' के स्फुट पद्यों में जहाँ भौतिक प्रेम का आधार है वहाँ, बोलनेवाला और सुनने-वाला पुरुष होते हुए भी, प्रसाद का आदर्श उनके प्रबन्धों के स्त्री पात्रों को ही मानना कदाचित् अधिक ठीक होगा। स्फुट पद्यों में की अवस्थाओं की व्यंजना के लिए कवि ने अधिकतर प्रकृति का सहारा लिया है और कहीं कहीं इस व्यंजना द्वारा एक काफ़ी लंबी चरित्र कथा भी कह दी है। यथा—

कितने दिन जीवन जल-निधि में—

विकल अनिल से प्रेरित हो कर लहरी, कूल चूमने चलकर
उठती-गिरती-सी रुक-रुक कर सृजन करेगी छवि गति-विधि में !

कितनी मधु-संगीत-निनादित गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गावेगी वंचित ! पागल-सी इस पथ निरवधि में !
दिनकर हिमकर तारा के दल इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनायेंगे निज चंचल ! भाशा की माधुरी अवधि में !

इसी प्रकार—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता ?
खोल रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता ॥
किसी हृदय का यह विपाद है, छोड़ो मत यह सुख का कण है ।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि 'प्रसाद' की विचार धारा में ईश्वर
और संसार दोनों का अस्तित्व है । संसार में प्रेम (और कर्म प्रवाह)
के नाते से नारी और पुरुष का निरन्तर द्वन्द्व है, जिसकी प्रतिक्रिया
में सुख-दुःखों का द्वन्द्व भी (आशा और निराशा, वेदना और
सांत्वना का रूप बनकर) वेगशील हो जाता है । प्रसाद ने इन
इन द्वन्द्वों के बारे में कहा है—

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र ।

डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन ।

द्वन्द्वों की इस सत्ता में स्त्री और पुरुष का अपना अपना अलग
विधान है जिसमें पुरुष का स्वार्थ और पुरुषत्व-मद—अधिकार-

भावना—उसे स्त्री में एकदम दूसरे सिरे पर रख देना है। परन्तु फिर भी दोनों में आकर्षण होता है; स्त्री ग्विचनी भी है और ग्विचनी भी है—ग्विचनी अधिक है; पर पुरुष ग्विचता हुआ भी अपने पुरुषत्व और मोह के कारण सुखी नहीं हो पाता—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।

समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

तुमने तो प्राणमथो ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया।

हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम-तम-में पहला स्थान दिया।

इस परिस्थिति में 'प्रसाद' जी प्रेमी पुरुष को बतलाते हैं कि—

“पागल रे ! वह (अर्थात् प्रेम) मिलता है कब, उसको तो देते हैं सब।
तू क्यों फिर उठता है पुकार ? मुझ को न मिला रे कभी प्यार !”

यह स्थिति दान, आत्मदान, की है और ऊपर बताई गई स्त्री की विश्व-करुणा से भिन्न है—इसमें पुरुष की स्वार्थप्रवृत्ति के कारण ममत्व का एकान्त लोप न कराकर उस ममत्व को ही ऊँचा उठाने का उपदेश किया गया है। इसे हम प्रेम की पूर्वकथित व्यापक परिणति का उपदर्शनमात्र कह सकते हैं। पुरुष के प्रेम की दृष्टि से एक दूसरे प्रकार का उपदर्शन भी हमको वहाँ प्राप्त होता है जहाँ संसार की निराशाओं और वेदनाओं को संसार में ही छोड़कर कवि किसी अलौकिक सुखलोक की कामना करता है, जिसमें यदि ईश्वर के सान्निध्य का भी संदेह कर लिया जाय तो बुद्धि का अत्याचार न होगा। जैसे नीचे के गीत में—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे ।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ।
जहाँ साँझ-सी जीवन छाया, ठीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से दुलकाती हो ताराओं की पाँति घनी रे ।
जिस गंभीर मधुर छाया में, विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई, दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे ।
श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से...
अमर जागरण उषा नयन से—बिखराती हो उथोति घनी रे !

प्रसाद की विचारधारा के इन मूल तथ्यों को ग्रहण कर लेने के बाद हमको यह ज्ञान लेने में भी आश्चर्य न होगा कि प्रेम के द्वारा संचित उनकी लोकभावना अपने विस्तार को प्राप्त होकर स्थान स्थान पर सामाजिकता और राष्ट्रीयता के उद्देश्यों को भी भली भाँति प्रदर्शित करती है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषतः 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' में, ये उद्देश्य अपने मूल विशद रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। पर कहीं कहीं अपने काव्य में भी 'प्रसाद' ने उनकी अच्छी झलक दिखाई है। भारत में की जाती हुई वर्तमान शोषण-नीति और यहाँ प्रसार कराई गई कृत्रिम सभ्यता से उत्पन्न मानसिक अधोवृत्ति का 'कामायनी' में ओजपूर्ण परंतु यथातथ्य, वर्णन किया गया है। अपने भोग और ऐश्वर्यमद में भूले हुए मनु की प्रजा उनके मिथ्या समाधानों के उत्तर में विद्रोही बन कर उनको इस प्रकार प्रत्याहूत करती है—

देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुँह से !
 तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
 लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला ।
 हम सवेदन-शील हो चले यही मिला सुख,
 कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख !
 प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी !
 शोषण कर जावनी बना दी जजर शीनी !
 और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
 इसलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है ?
 आज बन्दिनी मेरी रानी इडा यहाँ है ?
 ओ मायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?

मनु के जिन शब्दों के उत्तर में यह ललकार दी गई है वे भी
 वैसे ही हैं जैसे कि पिछले जंगली (?) भारत पर अहसान करने
 वाले लोगों द्वारा प्रायः कहे जाया करते हैं, यथा—

“तुम्हें वृत्ति-कर सुख के साधन सकल बनाया,
 मैंने ही श्रम भाग* किया फिर वर्ग बनाया ।
 अत्याचार प्रकृत कृत हम सब जो सहते हैं,
 करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं !
 आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी,
 यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी !”

❀ वर्णव्यवस्था या, आजकल के अर्थविज्ञान की परिभाषा में
 Division of Labour.

यहाँ तक हमने 'प्रसाद' की विचारधारा के स्थूल रूप का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। प्रसाद के विचारों में दार्शनिकता, गंभीर तत्त्व-चिन्ता, का प्राधान्य है। उसमें हमें उनके आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। परन्तु ऊपर के अनेक उदाहरणों से हमें यह भी पता चलता है कि विचार सिद्धान्त के साथ-साथ भाव भी उतने ही वेग से चलते हैं। 'प्रसाद' के कविकर्म में हमें यह बड़ी भारी बात मिलती है, जो प्रायः अधिकांश कवियों में कठिनता से ही उपलब्ध होती है, कि इनमें विचार और भाव दोनों समान रूप से प्रधान होते हुए एक ऐसी भूमि पर आपस में मिलते हैं जहाँ वे एक हो जाते हैं, उनका भेद दूर हो जाता है। ऊपर कितने ही उदाहरणों में यह बात देखी जा सकती है। अथवा; निर्दिष्ट रूप से, 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' या 'कितने दिन जीवन जलनिधि में' या 'आँसू वर्षा से खिंचकर' आदि कविताओं में, हम देख सकते हैं कि, विचार और भाव को अलग अलग कर देना एक दुष्कर कार्य है। तथापि, इन सब में अवश्य एक गहरी भावुकता है, और साथ ही एक सुनिश्चित सिद्धान्त भी। सिद्धान्त के रूप में आदर्शवाद और भाव के रूप में यथार्थवाद का इनमें मनोहर सम्मिलन है।

'प्रसाद' की यह विशेषता, वास्तव में उनकी पद्धति की विशेषता है। भाव में उद्देश्य ढूँढना तथा उद्देश्य में भाव ढूँढना इस कवि की विशेष रुचि मालूम होती है। विचार और भाव को एक सूत्र में जोड़ने की विशेष साधन बनती है प्रकृति। प्रकृति अपने मनोमोहक रतिरूप में खड़ी होकर जैसे एक इंगित सा करती हो

जो जीवन को किसी निश्चित दिशा में ले जाने की, अथवा जीवन के अभिप्राय को चित्र द्वारा दिखाने की, संसूचना देता है। यह प्रवृत्ति छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रवृत्ति है।

छायावाद प्रकृति में मनुष्य का, मानवजीवन का प्रतिबिम्ब देखता है। रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। रहस्यवाद में 'प्रतिबिम्ब' कहना शायद उचित नहीं है—'रहस्य' और 'छाया' शब्दों के भेद के कारण। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की, ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है। जब वह हमारे भावों को ठेस देता है तो हम उसे प्रकृति में ढूँढने की कोशिश करते हैं।

जिस प्रकार से रहस्यवादियों के दो वर्ग होते हैं*—विचारक और कवि—उसी तरह छायावादियों के भी होते हैं। अन्योक्ति कह कर उपदेश देने वाले भी छायावादी ही होते हैं परन्तु उनमें कवित्व विशेष नहीं होता, जैसे दीनदयाल गिरि। जयशंकर 'प्रसाद' कवि है। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वे बाह्य परिस्थितियों की भावुकता में बहुत गहरे उतर कर परिस्थितियों के संचालक, अथवा उनसे संचालित जीवन-रहस्यों से उद्वेलित होते हैं और प्रकृति को दर्पण अथवा प्रतिभासक यंत्र (Reflector) बना कर, अनिर्गुण प्रकाश का संग्रह करने की पद्धति में, अथवा उस प्रकाश को केन्द्रीभूत करने की पद्धति में, अपनी भावुकता का उन्मेष करते हैं। भावुकता-प्रधान

* देखिए, कबीर और जायसी

इस आधुनिक ढंग के छायावाद तथा रहस्यवाद के वे हिन्दी में सर्गकर्ता समझे जाते हैं। इस समझने में कोई बड़ी अतिरंजना नहीं है।

छायावाद के इस आधुनिक रूप में भावना का अनिरेक इतना अधिक है कि वस्तु और उसकी दर्पणागत छाया एक होते होते वह अवस्था पैदा कर देती है जिसमें कि छाया ही फिर बाद में मुख्य बन जाती है। दर्पण के सामने बैठा हुआ व्यक्ति दर्पण में अपनी कान्ति को देखता-देखता इतना मुग्य हो जाता है कि वह उस छाया-कान्ति में ही स्वविषयक भावुकता का आरोप करने लगता है। इस आरोपक्रिया में प्रकृत और अप्रकृत का विपर्यय भी प्रायः हो जाना स्वाभाविक है, जिसमें अमूर्त और निर्जीव में मूर्ति और जीव का निवास होने लगता है। जड़ में सजीवता लाने से ही अमूर्त में मूर्ति का आरोप होता है; क्योंकि जड़ में जो सजीव के गुण आदि प्रविष्ट हो जाते हैं वे स्वयं अमूर्त होते हुए भी, सजीवता के निर्वाह के लिए, मूर्त क्रिया आदि का आश्रय बन जाते हैं। इस प्रकार 'नाव' को 'पगली' कह दिया जाता है, 'लहरों व्योम चूम उठती' हैं, चेतना.....बिलग्वानी' है (कामायनी, पृष्ठ १६-१७)। अथवा एक दूसरा उदाहरण देखें—

जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार बार जाती सोने।

इस पंक्ति में लहरियों में सोकर उठने के आलस्य रूपी सजीव गुण का अँगड़ाई शब्द द्वारा आरोप किया गया है; फिर साथ ही साथ उस गुण (अमूर्त आलस्य) में मूर्त अनुभाव-क्रिया 'अँगड़ाई

लेने' और 'सोने जाने' का आरोप है। पूरा उदाहरण सोकर उठी हुई नायिका का अप्रस्तुत है; परन्तु वस्तुछाया की प्रत्यच्छना, दृश्यांकन (imagery) की कुशल वास्तविकता के कारण वही भाव-दृष्टि से प्रस्तुत हो उठा है।

परन्तु ऊपर की पंक्ति 'कामायनी' के एक प्रसंग का अंग है और उस प्रसंग के साथ ग्रहण की जाने पर वह स्वयं प्रस्तुत ही है और यथार्थ में, छायावाद का उदाहरण नहीं है। उसमें प्रकृति ही वर्ण्य है। पर छायावाद के संबंध में कई लोगों में एक प्रकार की भ्रान्त धारणा है। जड़ अथवा अमूर्तों के वर्णन में कहीं कहीं बहुत अधिक लाक्षणिकता आ जाने से बहुत से लोगों के लिए कथन में जो एक अस्पष्टता पैदा हो जाती है उसी को वे 'छायावाद' कहने लगते हैं। ऊपर के उदाहरण में इस प्रकार की लाक्षणिकता खूब है, परन्तु उसमें अस्पष्टता नहीं है। पर—

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

या— कौन हो तुम विश्वमाया कुहक सी साकार

प्राणसत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार ?

मे लाक्षणिकता बहुत दूर तक गई है, जिससे व्यंग्य भी गहन हो जाता है और सर्वसाधारण के लिए इन शब्दों में अस्पष्टता आ जाती है। किसी मूर्त को अमूर्त अव्यक्त उपमान द्वारा दृष्टिगोचर करने में जहाँ अमूर्त उपमान में मूर्तता लाई जाकर उसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की 'प्रसाद' की चेष्टा रहती है वहीं मूर्त उपमेय को भावरूप में समझने का उनका प्रयत्न भी दर्शनीय है। क्योंकि

किसी भी पदार्थ का जीवन में हमारे लिये जो भी महत्त्व है वह हमारे चेतन जीवन के साथ उसके भावरूप सामंजस्य से ही है। 'जिह्वा' का अर्थ और कुछ नहीं, केवल उसकी स्वादशक्ति ही है। और इसीसे उसके लिए गुड़ भी एक मीठा पदार्थ समझा जाता है। परन्तु जिस जिह्वा को गुड़मार घास द्वारा जड़ीकृत कर दिया गया है वह न तो स्वयं ही जिह्वा रहती है और न उसके लिए गुड़ का अस्तित्व ही रहता है।

भावमय जगत में इस प्रकार बात कहने का रिवाज पुराना है; मनुष्य प्रायः किसी प्रियजन से कहा करते हैं 'तुम्हीं मेरे जीवन का सुख हो' परन्तु यही पद्धति कविता में जब बहुत अधिक व्यंग मार्ग का अनुसरण करने लगती है तो वह साधारण प्रणिपत्ति वाले या कम भावुकता वाले लोगों के लिए दुर्बोध्य और निरर्थक हो उठती है और कोरा शास्त्रपरिचय ही उसको पूरी तरह नहीं सुलभा सकता। शास्त्र के अनुसार उपमान या अप्रस्तुत कोई अति प्रसिद्ध, चमत्कारी, और साधारण धर्म में उपमेय से अधिक विशिष्ट, पदार्थ होना चाहिए। ऐसी दशा में 'कौतूहल' अथवा 'विश्वमाया-कुहक' अथवा 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' का उपमानत्व शास्त्र की समझ में आना कठिन है। स्वयं प्रकृति-जन्य होने के कारण, प्रकृत के प्रति इन उपमानों का अप्रकृतत्व शास्त्र की दृष्टि में शायद अप्रयोज्य भी हो। तथापि प्रकृतजन्य उपमेयों या उपमानों का भी साधारण कहने-सुनने में प्रयोग न होता हो, सो बात तो नहीं है। अपने पिता से सूरत-शक्त में हू-ब-हू मिलने वाले पुत्र से हम कहते हैं 'तुम बिलकुल

अपने पिता के समान हों' अथवा तुम अपने पिता के प्रतिरूप हो; किमी बड़े अच्छे कारीगर की बड़ी अच्छी कारीगरी को देख कर भी हम कहते हैं 'यह कृति कलाकार की कला की साक्षात् मूर्ति है।'

वास्तव में यदि देखा जाय तो, किसी वस्तु के सच्चे भाव का सच्चा ग्रहण उस प्रकार की कल्पनाओं में ही अधिक अच्छा होता है। जो व्यक्ति 'कौतूहल' अथवा 'दिश्वमाया कुहक' या 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' के समान बताया जाता है, वह वास्तव में वक्ता के लिए 'कौतूहल' या 'कुहक' या 'मनोहर भेद' के भावों का प्रतीक है। यदि उससे वक्ता में ये भाव पैदा न हों तो वक्ता के लिए उसका अस्तित्व ही नहीं है। 'उम' का और 'कौतूहल' आदि का उपस्थित होना वक्ता के लिए समकालिक है और यह दोनों 'उपस्थित होने', इसलिए, वक्ता की दृष्टि में एक ही पदार्थ हैं। तब क्या यह कहा जा सकता है कि 'उस'—प्रकृत के लिए 'कौतूहल' आदि में अधिक उपयुक्त दूसरा उपमान भी कोई हो सकता था ? हमारी समझ में जितनी सच्चाई और वास्तविकता इन उपमानों में है उतनी लोकविश्रुत उपमानों में नहीं होती। 'चंद्रमा', 'पंकज' आदि, फिर भी, अपेक्षा की दृष्टि से, कृत्रिम से ही मालूम होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपमान-कथन में सर्वत्र लाक्षणिकता और अनिशयोक्ति रहती है, जिससे कथन के तत्त्व-बोध में कृत्रिमता भी अवश्य आ ही जाती है। परन्तु उपमानों के प्रयोग में तत्त्वबोध से हमारा कोई काम नहीं रहता—हमारा काम भावबोध से रहता है। इसलिए 'चन्द्रमा' और 'पंकज' की कृत्रिमता हमें नहीं

खटकती। पर 'चन्द्रमा' और 'पंकज' लक्षणा में रूढ़ हो गए हैं, और जो लक्षणा प्रयोग रूढ़ हो जाते हैं उन्हें सर्वसाधारण आसानी से समझ लेते हैं। उनकी कृत्रिमता का उन्हें ध्यान नहीं होता। 'प्रसाद' की लाक्षणिकता रूढ़ि के अवलंब पर स्थित नहीं है, वह प्रयोजन के हेतु से सार्कर्मण्य है। उसका प्रयोजन भाव के अधिक से अधिक साक्षात्कार का रहता है। भाव एक बड़ी जटिल वस्तु है। उसको जितना ही खोलो उतनी ही तह पर तह उसमें से निकलती चली आती है, जिससे लाक्षणिकता के बाद जो व्यंजना आती है वह और भी अधिक गहन होने लगती है। 'विश्व-माया-मुहक', और उसके साथ-साथ 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद', का विश्लेषण करने से हमें इस प्रकार की 'तह पर तह' का पता लगने लगेगा। जनसाधारण की पहुँच कम होने से, वे भावों की इन तहों को देख नहीं सकते, उनके लिए इस प्रकार की कविता अर्थहीन और अस्पष्ट है जिसके कारण वे उसे 'नये स्कूल की छाया-वादी पद्य-रचना' कह देने में अपना विद्यागौरव समझते हैं। पर ऊपर के इन दोनों उदाहरणों में भी छायावाद नहीं है।

हाँ, भावों की गहराई के कारण 'प्रसाद' में अस्पष्टता अवश्य है। यह स्वाभाविक है। भावों में गहरे उतरने का अर्थ ही है अस्पष्टता में भ्रमण करना। यदि जीवन का रूप भाव और भाव की प्रेरणा है तो अस्पष्टता स्वयं जीवन का ही एक तत्व है। जो लोग विचार और शुष्क विवेक को बहुत अधिक महत्व देते हैं उन्हें भी भावों की प्रधानता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। जीवन का संचा-

लन जितना भावों से होता है उतना विचारों से नहीं। वस्तुनः जहाँ विचार कार्य करता है वहाँ भी न मालूम भाव किधर से छिप आकर विचार का समर्थक और प्रेरक बन जाता है। 'प्रसाद' ने विचारों और भावों के इस अन्योन्याश्रय को खूब पहचाना है। प्रायः हम देखते हैं कि उनकी भावुकता मन के किसी विषय को लेकर उत्पन्न होती है और विचार कभी भावुकता के किसी विषय को लेकर उठते हैं। अकसर दोनों में पारंपर्य की कई कई सरणियाँ देखने में आती हैं। इसके कारण, तथा भावुकता की गहरी पहुँच में अमूर्त उपमान आदि अथवा जड़ता में सजीवता के आरोप आदि के कारण, 'प्रसाद' की कविता में हमको यदि अस्पष्टता दिखाई देती है तो वह जीवन की ही अस्पष्टता है। जो कवि जीवन की अस्पष्टता को ठीक ठीक समझ कर उसका वास्तविक भावुकतामय रूप दिखा सकता है वह सचमुच बड़ा भारी कवि है। प्रसाद ने एक स्थान पर कहलाया है—“.....विकल रंग भर देती हो। अस्फुट रेखा की सीमा में आकार कला को देती हो।” परन्तु हाँ, जिस कवि की अस्पष्टता, अनुभूति से रिक्त होकर, उसकी समझ और भावुकता की असामर्थ्य से उत्पन्न होती है वह हेय है। अस्पष्टता की भी एक बड़ी ऊँची फ़िलाँसफ़ी है। 'नेनि नेति' अथवा 'स्याद्वाद' के दार्शनिक अस्पष्टवादी ही हैं। कवि कोरा दार्शनिक नहीं होता। वह जड़दर्शन को अपनी अनुभूति की भावुकता से सजीव, स्पन्दन-युक्त, वस्तु बना देता है। 'प्रसाद' को हम इसी कोटि का दार्शनिक कवि समझते हैं।

‘प्रसाद’ को समझने में जो कठिनाई होती है उसका एक कारण यह भी है कि हम प्रायः उनकी पद्धति को समझने की चेष्टा नहीं करते। इस ऊपर के विवेचन द्वारा उनकी काव्य-पद्धति को थोड़ा-बहुत समझने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली का एक अन्य अति प्रधान गुण है ‘अद्भुत’-प्रियता या ‘रोमांस’ (romance) की प्रवृत्ति। उनके काव्य में जीवन के ‘रोमांस’ के साथ-साथ शैली की ‘अद्भुत’-ता बराबर चलती है। प्रबंध-रचनाओं में यह तत्त्व विशेष रूप से देखने में आता है।

छायावाद का मोटा लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। मनुष्य-प्रकृति और जड़ प्रकृति के सामंजस्य की भावना ही अपने अधिक विकास में छायावाद को जन्म देती है, जिसमें प्रकृति जीवन का प्रतीक बन जाती है। ‘प्रसाद’ की दो एक छायावादी कविताएँ ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं। एक उदाहरण और देते हैं—

रजनी रानी की बिखरी है ग्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी ! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला ।
गँज उठी तेरी पुकार—‘कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना ।’
दुख-सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात ।
तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करण स्वर अपना,
सोनेवाले जग कर देखें अपने सुख का सपना ।

रहस्यवाद का एक नया उदाहरण यह है—

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में जोतिर्मान,
 ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान !
 छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए;
 तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ?
 सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
 सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
 हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
 मंद गँभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान ।

छायावादी और रहस्यवादी कवि होने की हैसियत से प्रकृति
 को इन्होंने जिस रूप से अपनाया है उसमें इनकी दृश्यचित्रण की
 सहज सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है । नीचे के उद्धरणों
 में प्रलय का कितना सुंदर—अद्वितीय—वर्णन है, जिसमें काव्य
 शास्त्री एक साथ कई कई रस ढूँढ सकते हैं—

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !
 सघन गगन में भीम प्रकंपन शंखा के चलते झटके ।
 पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात,
 उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ।
 उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी;
 चली आरहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी ।
 धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निवास;
 और संकुचित क्रमशः करके अवयव का होता था हास ।

सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
 व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी ।
 करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सबका;
 पंचभूत का यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कब का ।
 रूप वर्णन का भी एक उदाहरण नीचे देखा जा सकता है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
 खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।
 अह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—बीच जब घिरते हों घनश्याम,
 अरुण रवि मंडल उनको भेद, दिखाई देता हो छवि धाम ।
 घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास,
 नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास ।
 और उस मुख पर वह मुसक्यान ! रक्त किसलय पर ले विश्राम,
 अरुण की एक किरण अग्लान अधिक अलसाई हो अभिराम ।

प्रेम और विरह की हार्दिक वृत्तियों को लेकर जो भावुकता
 उत्पन्न होती है, उसके दो-एक उदाहरण ऊपर आ गये हैं । पर
 'कामायनी' के विरह-वर्णन की भावुकता साहित्य में एक नई चीज़
 है और उसकी महामूल्य संपत्ति है । नीचे उदाहरण स्वरूप इसमें
 से कुछ पद्य दिए जाते हैं, जिनमें पहले दो कवि द्वारा वर्णन के रूप
 में हैं, शेष कामायनी के विलाप के रूप में हैं—

(क) कामायनी कुसुम वसुधा पर, पड़ी, न वह मकरंद रहा,
 एक चित्र सब रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ ।

- वह प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
 वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।
- (ख) “एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
 जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही,
 हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
 वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।
- (ग) “आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
 पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले;
 इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
 कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले।
- (घ) वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
 और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा,
 वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
 कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा।
- (ङ) “वे कुछ दिन जो हैंसते आए अंतरिक्ष अरुणाचल से,
 फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से;
 फैल गई जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
 चिर प्रवास में चले गए वे आने को कह कर छल से !
- (च) “बन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
 लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
 किंतु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
 रजनी की भीगी पलकों से तुहिन बिंदुकण-कण बरसे।”

‘कामायनी’ ‘प्रसाद’ जी का महाकाव्य है। इसका आधार मानव सृष्टि के आदि पुरुष मनु की कथा है। मनु और मानव सृष्टि की कथा के संबंध में तरह तरह के मत हैं। ‘प्रसाद’ स्वयं उस कथा को ऐतिहासिक मानने को नैयार हैं; परन्तु अन्यान्य व्याख्याताओं के अनुसार उसे रूपक या दृष्टांत (allegory) भी माना जा सकता है। हमारा भी निजी विचार यही है कि ‘कामायनी’ एक रूपक-रचना है। मन के विकास के साथ साथ संसृति के विकास के पुराने दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त को लेकर कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा और सहानुभूति के साथ उसे लौकिक कथा का मनोहर रूप दे दिया है। यथार्थ बात तो यह है उसने कथा के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दोनों ही पक्षों को दृष्टिगत रक्खा है। इस प्रकार की रचना का भारतीय (?) साहित्य में यह शायद पहला श्रेष्ठ और सकल प्रयास है। ‘प्रबंध-चन्द्रोदय’ आदि रूपक तो हैं, पर वे काव्य नहीं बन सके।

जयशंकर ‘प्रसाद’ की प्रतिभा सर्वनोमुखी थी। गद्य और पद्य, दोनों, में उनकी अबाध गति थी। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों ही, में अच्छी कविता और स्फुट पद्य, गीतकाव्य तथा प्रबंधकाव्य लिखे। गद्य में नाटक—उपन्यास, कहानी, निबंध ये सभी उनकी लेखनी के विषय बने और सभी में—उपन्यासों को छोड़कर—उन्होंने अद्वितीय कुशलता दिखलाई। छायावादी कविता, नाटक तथा कहानी के लिए तो वे हिन्दी संसार में युगप्रवर्तक के रूप में ही अवतीर्ण हुए। यह सच है कि उनकी कला क्रमशः

विकसित हुई, परन्तु उनका रचना-कार्य बहुत छोटी अवस्था में ही आरंभ हो गया था और उनकी प्रारंभिक रचनाओं में ही उनके उच्चतम विकास के बीज मौजूद थे। यही प्रतिभा की शुद्ध पहचान है। इतनी थोड़ी आयु पाकर, गृहस्थी और व्यवसाय का भार सँभालते हुए भी, उन्होंने जितना अधिक और जैसा श्रेष्ठ साहित्य हमें दिया है उसे देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे साहित्य-संसार में एक आसाधारण व्यक्तित्व के महापुरुष थे जैसे कि कभी कभी, एक पूरे युग में ही, पथप्रदर्शन के लिए अवतार लिया करते हैं।
